

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj.)**

Students can retain library books only for two weeks at the most.

| BORROWER'S<br>No. | DUE DATE | SIGNATURE |
|-------------------|----------|-----------|
|                   |          |           |

॥ श्री ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

२३८

॥ ध्या ॥

काव्यप्रकाश-रहस्यम्

( प्रशोधित परिवर्धित संस्करणम् )

P. G. १६८



तौखम्बा संस्कृत सोरीज आफिम,

वाराणसी-१

Government College Library  
KOTAH.

LENDING TERM, 30 R

Class No. 891.2107

Book No. S.623 Vol. No. 1

Accession No. 21686

॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

२३८

P. G. SECTION

॥ श्रीः ॥

काव्यप्रकाश-रहस्यम्

( काव्यप्रकाश-प्रश्नोत्तरी )

रचयितारौ

साहित्यशास्त्राचार्यः—

श्री पं० सीताराम-जयरामजोशी, एम० ए०

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयसंस्कृतभाष्यापकचरः

तथा

श्री पं० देवदत्तशास्त्री विद्यानिधिः

अम्बालास्य दी० कृ० कि० स० ध० संस्कृतकालेनीध्यापकः

CHITRA  
1963  
Checker

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाराः—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

पोस्ट बाक्स नं० ८, वाराणसी

मूल्य १ रु० ५० नए पैसे

‘पुनर्मुद्रणदिष्टा सर्वेऽधियता’ प्रकाशकाधीनाः

Chowkhamba Sanskrit Series Office,

P. O. Box 8, Varanasi.

1959

( प्रतिसंस्कृतं द्वितीयं संस्करणम् )

मुद्रण—

विद्याभिलाम प्रेस, वाराणसी-१

# भूमिका

नत्वा जगद्गुरुं देवं विद्यां तां ब्रह्मण कलाम् ।  
कान्यप्रकाशगुह्यस्य प्रस्ताव कियते मया ॥ -

काव्यप्रकाशरहस्य-नामाऽयमेव ग्रन्थ पूर्णरूप परिवृत्य किञ्चिन्नूतन  
वेपपरिधानेनाधुना जिज्ञासूना विद्यार्थिना तथा चान्यत्रिचक्षणाना पुरतो  
वरीरर्त्ति । तत्रत्या प्रथमपङ्कलासा अतिसक्षिप्ततया विहितत्वान् परीक्षा  
र्थिना छात्राणा ग्रन्थरहस्यबोधनायातीरापर्याया इति मत्वा ग्रन्थप्रकाश-  
निर्बन्धादेव परिसंबोधक्षमा यथा भवेयुस्तथा कृत्वा तेऽत्र विनिवेशिता ।  
अपरञ्चात्रैव साहित्यिकीप्रथिता काऽपि स्पृहणीयपरम्पराऽपि प्रथितु  
पारितेति जिज्ञासूना तदतीत्य मुदमागद्देदित्याशासे । सप्रमोलासादारभ्य  
ग्रन्थसमाप्तिपर्यन्तं तु श्रीदेवदत्तशास्त्रिभूता रचना पूर्णदेव सन्निधापिता ।  
ग्रन्थगौरवभयात् स भागोऽत्रास्पृष्टो वर्तते । ग्रन्थविस्तरेण तन्मूल्यमपि  
स्वाभाषिकमेव वृद्धिमाप्नुयात्तथाभूते च सति नि स्वच्छात्राणा कृते ग्रन्थ-  
प्रापणकठिन्य जायेतेति प्रधानभाग एवात्र परिवर्तितस्तिष्ठति । आशासे  
चाय नूतनरूपेण जिज्ञासूना मनोरञ्जने तथा ग्रन्थस्य सम्यग्बोधविधाने  
प्रभवेदिति ।

ग्रन्थकृत्परिचयस्तस्य चरित्र-देश-कालवर्णनेन समासेनैवात्र विहितश्चे-  
त्सोपि तेषामुपकारक्षमो सम्पद्येतति मत्वाऽतिसक्षेपेणैत्रात्र विधीयते ।  
ग्रन्थस्यास्य प्रणेता राजानकपदलाब्धन श्रीमान् मम्मटभट्ट काश्मीरान-  
लञ्छकार स्वनिवासेनेत्यत्र न वैमत्य विदुषाम् । भीमसेनदीक्षितनिर्मित-  
सुधासागराख्यया ग्रन्थस्यास्य टीकयेदमपि विदितं न 'अस्य पिता  
जैय्यटनामधेय । व्याकरणमहाभाग्यप्रदोपकृतकैयटस्तथा वेदभाग्य  
कृदुव्यटश्चास्यैव द्वौ कनीयासौ भ्रातरावास्ताम् । स स्वभातृभ्या सह  
वाराणस्यामध्ययनाध्यापनमकरोदिति । तथा च भीमसेन —

श्रीमान् कैयट औपटो ह्यरजो यच्छात्रतामागतो  
भाष्यान्वि निगम यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गत ॥

इति स्वटीकाया प्रस्तावश्लोकेषु कथयति । अत्र कैयटोपाध्य  
वैयाकरण सन् स्वप्रदीपप्रस्तावे आत्मानं जैयटात्मजमभिधत्ते । उक्त्वा  
तु स्त्रीयपेदभाष्ये यज्जटात्मनमात्मानमभिव्यनक्ति । अतोऽस्य मम्म  
भानृत्य विद्वद्भिर्निशङ्कितं सदनिर्णीतं वर्तते ।

सर्गशास्त्रविशारदोऽपि मम्मटाचार्योऽयं प्रधानतया वैयाकरणाग्रणीरेव  
वभूय, यद्वृद्धीकरण काव्यप्रकाशस्थितनैकविधप्रमाणपरम्परा सुशकम् ।  
न केवलं भीमसेनेनैव किन्तु तत्पूर्वैरपि टीकाकृद्भिरानन्ददेवनाथतर्क-  
पञ्चाननप्रभृतिभिरयं मम्मटभट्टो वाग्देव्या अतारत्वेन वर्णितः ।

उक्तोक्तमन्त्रभाष्यप्रस्तावगतश्लोकेन (‘भोजे पृथ्वीं प्रशासति’ इत्यु-  
क्तत्वात् ) मम्मटरयं भोजराजसमकालिकत्वमपि ज्ञापितं भवति ।  
अयं धारेश्वरो भोजराजं सृष्टाब्दीय १०१८-१०५५ वर्षपर्यन्तं महीं  
शशासेति शिलालेखस्थितानेकप्रमाणोपन्यासद्वाराऽऽधुनिकैरैतिहासिकै-  
र्निश्चयप्रचम् । काव्यप्रकाशेऽपि मम्मटभट्टेनैवोदात्तालङ्कारोदाहरणावसरे  
‘यद्विद्वद्भवेनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्’ इति भोजनृपतेर्गणनं  
कृत्वा तत्समकालिकत्वं प्रकटीकृतम् ।

यदि भोजनृपते समकालितकत्वमस्य मम्मटाचार्यस्य न स्वीक्रियेत  
तर्हि तस्मादवार्चनित्यं त्ववश्यमेवाङ्गीकरणीयम् । एवमयं काव्यप्रकाशस्य  
निर्माता सृष्टाब्दीयैकादशशतकस्योत्तरार्धात् ( ई० १०५० ) प्राचीनो न ।  
सृष्टाब्दीयद्वादशशतकस्य पूर्वार्धे ( ई० ११४० ) वर्तमानराजानकस्यक-  
वर्षेण काव्यप्रकाशस्य टीका सङ्केतनामिका विरचितेति, साप्यधुना  
पुण्यपत्तने भाण्डारकरसशोबनमहालये उपलभ्यते इति द्वादशशतकारम्भा-  
त्पूर्वमेव काव्यप्रकाशस्य प्रचारोऽभवदित्युपगन्तव्यम् । काव्यप्रकाशस्या-  
परा टीका सङ्केतनामिका गुर्जरदेशस्थ माणिक्यचन्द्रसुरिणा विरचिताऽ-  
धुना सम्मुद्रयं प्रकाशितोपलभ्यते । अतो द्वादशशतकस्यारम्भादेव काव्य-  
प्रकाशस्य पठनपाठनप्रणाली भारतवर्षे प्रचलिताऽऽसीदित्यनुमेयम् ।  
एवं मम्मटभट्टेनायं काव्यप्रकाशग्रन्थः सृष्टाब्दीयैकादशशतकस्योत्तरार्ध-  
भागे ( ई० १०५०-११०० ) कदाचिद्विनिर्मितः इति जिज्ञासुभि-

अलङ्कारनये काव्यप्रकाशस्य तदेव स्थानं यद् व्याकरणे महाभाष्यस्य वेदान्ते वा शारीरकशाङ्करभाष्यस्य दृश्यते अतोऽस्य नाम आकर इति सूचपन्नम् । अस्यापि ग्रन्थस्थालङ्कारग्रन्थान्तराणामिदं त्रय एवाशा सन्ति 'कारिकावृत्तिरुदाहरणं चेति । तत्र द्वाचत्वारिंशदधिकैकशत-सङ्ख्यायां कारिका सूत्ररद्गाढसन्दर्भा वर्तन्ते । वृत्तिरपि गद्यात्मिका मिताक्षरा सारगर्भा दुस्सा अत एव परिणाययितुं दुःशका वर्तते । ग्रन्थोऽयं मम्मटभट्टवर्येण कथमपि समाप्तिं न नीतं परिकरालङ्कारावधिरेव विरचितं । शेषस्तु तच्छिष्यभूतेन राजानकालकसूरिणाल्लटार्येण वा समाप्तिं नीत इति ग्रन्थस्यास्यान्तिमश्लोकसन्दर्भेणानन्दकविना काश्मीरकेण राजानकरव्यस्वर्येण तथा माणिक्यचन्द्रसूरिणाऽपि प्रकटीकृतम् । श्रीमदानन्द स्वीयनिर्देशनारयटीकायां कथयति—कृतं श्रीमम्मटाचार्यवर्येण परिकराधि । प्रबन्ध पूरितं शेषो विधायाल्लट-सूरिणा इति इत्थमेव सोमेश्वर-जयन्तभट्ट-कमलार-सरस्वतीतीर्थ-प्रभृतिभिरप्युच्यते ।

ग्रन्थस्यास्याशत्रितये तृतीयांश उदाहरणात्मको मम्मटकृतिर्न । तेन तत्समयप्रसिद्धकवीनां ग्रन्थत उद्धृतोऽस्ति । शेषांशद्वयत्रिपयेऽपि तदेक-कर्तृकं द्विकर्तृकम् इत्यत्र टीकाकाराणां वेमस्य दृश्यते । प्रायेण बङ्गीया कारिकाकर्तृत्वं भरतमुनीं समारोपयन्ति । तद्वितरे न क्षमन्ते । भिन्नकर्तृ-कत्वस्य प्रतिपादयितारस्तु कथयन्ति 'कतिपयकारिका प्रकाशग्रन्थगता भरतप्रणीतानान्यशास्त्रेऽधुनोपलभ्यन्ते । तथा च ग्रन्थस्यास्य प्रथम-कारिकावृत्त्युपक्रमान्तरे 'ग्रन्थकृत्परामृशति' इति प्रथमपुरुषपूर्वकनिर्देश-कारिकाकर्तृवृत्तिवृद्धिप्रत्ययमुपपादयति । दशमोल्लासे च रूपश्लक्षणे 'सम-स्तस्तुत्रिपयं श्रौता आरोपिता यदा' इति कारिकायां बहुवचनग्रहणं तथा चास्या वृत्तौ 'बहुवचनमविवक्षितम्' इत्युपपादनं कर्तृपृथक्त्वबोध-कमेवेति ।

इतरेऽत्रेत्यं समादधते—साद्वैशतकारिकासु द्वे तिस्रो वा कारिका भरतमुनिप्रणीता नाट्यशास्त्रतः सन्दृश्यन्ते । तास्तव एव बुद्धिपूर्वं मम्मटार्येणरुद्धता इत्युपसेया । कुत । तैरेव वासन्तानन्दार्धनाचार्यग्रन्थे-





# हिन्दी साहित्यदर्पण

डॉ० सत्यव्रत सिंह एम० ए०, पी-यच० डी०

ऐसे लाक्षणिक ग्रन्थों के विषय में अब तक किए गए रहस्यमयिभेदक प्रयत्नों में जिस भाषा शैली का प्रयोग किया गया है वह ऐसी उलझन से भरी और अव्यवस्थित-सी पाई जाती है कि जिससे विषय स्पष्ट होने के बदले और जटिल-सा हो जाता है। परिणाम यह हुआ है कि छात्रगण विषय को ही उत्तरोत्तर क्लिष्ट समझ कर हार-सी मान बैठते हैं। क्योंकि बहुत परिश्रम करने के पश्चात् भी सन्देह की निवृत्ति नहीं हो पाती। छात्र-समाज का यह काठिन्य ध्वस्त करने के उद्देश्य से साहित्यशास्त्र के प्रकाण्ड मर्मज्ञ विद्वान्, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्रीमान् डॉ० सत्यव्रत सिंहजी ने पहले सर्वबोध्य सुगम भाषा में मूल का व्यवस्थित अनुवाद अंकित किया है तत्पश्चात् अपनी विमर्शनाग्नी व्याख्यात्मक विशद टीका प्रस्तुत की है, जिसके द्वारा विषय की दुद्गद् प्रणियों का वस्तुतः सम्यक् समुन्मोचन बन पड़ा है। इसमें कहीं भी मूल की उपेक्षा हुई नहीं प्रतीत होती। छोटे-छोटे वाक्योंवाली सरस, सरल एवं विषय के अनुरूप कल्पित भाषा का प्रयोग करके नाट्यशास्त्रकार, अभिनवभारतीकार, भावप्रकाशनकार, काव्यानुशासनकार तथा रसार्णवसुधाकर के रचयिता आदि अनेक साहित्यमर्मज्ञों के मतों की सहायता से भ्रामक मत-मतान्तरों के निरासपूर्वक इस कौशल से विषय का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया गया है कि एक बार पढ़ लेने मात्र से वह हृदयपटल पर अंकित-सा हो जाता है। अन्यान्य ग्रंथों के उदाहरण और मतों से छात्र सरसतापूर्वक विषय की व्यापकता का समग्रण कर सकते हैं।

ग्रंथ के आरम्भ में लगभग १०० पृष्ठों की समालोचनात्मक भूमिका है, जिसमें एक ओर कतिपय अलंकारों पर वैज्ञानिक शोधसंबन्धी दृष्टिकोण है और दूसरी ओर प्रमुख अलंकारों का स्वरूप तथा परस्पर वैधर्म्य संकेतित किया गया है।

व्याख्याकार के इस स्तुत्य एवं सफल प्रयास द्वारा छात्रों एवं अभ्यापकों का समानरूप से हित होगा ऐसी आशा है।

छपाई गेट अप आदि आधुनिकतम।

मूल्य अत्यल्प १२।।)

प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

पोस्ट बाक्स नं० ८, वाराणसी-१

महाकवि बाणभट्ट-रचित 'कादम्बरी' पर एक नव न रचना—

# कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राध्यापक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रस्तुत ग्रन्थ की रल्लेखनय कुछ मुख्य विशेषताएँ—

१ कादम्बरी का सम्पूर्ण कथासूत्र इस प्रकार सुरक्षित है नात्रमेव ।  
हमकी परम्परा में कहीं भी छुट्टि नहीं आने पाई ।

२ अनुवाद करते समय आधुनिक हिन्दी भाषा का प्रभाव हार्दिक-  
प्रकृति इस प्रकार व्यवस्थित की गई है कि पाठक हमके माध्यम-  
सम्बन्धित संस्कृत शैली का रसमय लालित्य ग्रहण कर सकें ।

३ गुप्तयुग की सांस्कृतिक मामलों का जो भण्डार कादम्बरी में सुरक्षित है  
सबकी तुलनात्मक व्याख्या—साहित्य, कला और इतिहास के आधार पर  
इस प्रकार का गई है कि प्रथम बार ही वा' के शब्दों पर नया प्रकाश पड़ा है ।

४ ऐसे प्रत्येक स्थल और कठिन शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या पाठकों को इस  
ग्रन्थ में प्राप्त होगी जिन पर आज तक के किसी टीकाकार ने प्रकाश नहीं डाला ।

५ कादम्बरी की रचना में कवि का मूल प्रयोजन क्या था, आरम्भ में राजा  
का नाम शूद्रक क्यों रखा गया, अच्छीद सरोवर क्या है, महाश्वेता और  
कादम्बरी किस-किस के प्रतीक हैं, आदि और भी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का ग्रन्थ के  
अन्त में आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया है ।

कथानक और काव्य के विधान एवं रस के निधान की दृष्टि से कादम्बरी  
अपने आपमें पूर्ण है । किन्तु हमसे भी आगे की अनेक दुर्ग की जिस समस्या  
का समाधान बाण महोदय कादम्बरी-द्वारा करना चाहते थे उसका भी लेखक ने  
सम्यक् स्पष्टीकरण कर दिया है । पाठक देखेंगे कि कालिदास और बाण के  
सम्बन्धित युग का सांस्कृतिक समन्वा समान ही थी ।

ग्रन्थ के आरम्भ में ३५२ अनुच्छेदों का विस्तृत विवरण और अन्त में  
कुछ विशिष्ट शब्दों की अनुन्मन्त्रि भी दी गई है ।

सातत्य यह कि कादम्बरी के विषय में इस एक ग्रन्थ को हाथ में लेकर आप  
इस विषय में अन्य किसी ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं करेंगे । हमारा विश्वास है कि एक  
बार देखकर ही आप भी इसे सचमुच पढ़नाय, मननय एवं समग्रहणय समझेंगे ।

विद्यार्थी, अध्यापक एवं साहित्य-प्रेमियों को अविलम्ब इस महत्त्वपूर्ण उपादय  
मन्थरज का समग्र करना चाहिए । छान्दोग्य आदि आधुनिकतम । मूल्य (१३।।)

प्रतिन्यायम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

धर्म  
वैलक्षण्य  
न्यायसूत्र  
वेदान्तसूत्र  
सुखदुःख

# काव्यप्रकाश-रहस्यम्



श्रीरामप्रणिहितधीर्विहितगुरुप्रणतिरासततत्प्रणुतिः ।  
श्रेयस्कामो युजे प्रकाशरहस्यावबोधाय ॥  
यस्याः कटाक्षमात्रेण शेमुषी सम्प्रसीदति ।  
तां चिच्छक्तिमयीं देवीं शारदां समुपास्महे ॥

## अथ प्रथमोल्लासः

प्रश्नः १—काव्यप्रकाशस्थमङ्गलश्लोकस्य व्याख्याप्रसङ्गेन तन्महत्त्वं प्रतिपाद्य तत्स्थपदानां विग्रहव्याकृतिपुरःसरं समालोचना कार्या ।

उ० १—‘ग्रन्थारम्भे विघ्नविधाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत्परामृशति’ इति प्रास्ताविकी वृत्तिः । तदनन्तरं—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥

इति मङ्गलश्लोकः । एकप्रमोजनोद्देश्यप्रवृत्तावनेकपदसमुदायो ग्रन्थः, तदारम्भे च विघ्नविधाताय समाप्तये वा स्वेष्टदेवतामङ्गलस्यावश्यकतया प्रकृतग्रन्थस्य काव्यपरतया कधिनिर्मितभारतीत्यप्यवयिनां तदधिष्ठात्री भगवतीं वाग्देवीं विधा-  
नृष्टितो व्यतिरेकेणोपश्लोकयति । तत्र सृष्टिस्तावत् नियत्या दैवेन कृता ये निय-  
मास्तैः सहिता भवति, कवेर्वाङ्निर्मितिस्तु तद्विलक्षणा । नियतिश्च पदार्थानाम-  
साधारणो धर्मः, अदृष्टं वा ‘दैवं द्रिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः’ इत्यम-  
रोक्तप्रकारेण दैवम् अदृष्टपदबोध्या वा नियतिः । चन्द्रस्य नियतिकृतनियमस्तु  
तदाह्लादकत्वं शीतरश्मित्वं च । कविस्तु तदवमान्य विरहोत्पीडितानां कृते

चन्द्रस्य दाहकत्वमुष्णरश्मित्वं च वर्णयति । अतः कविनिर्मितौ नियतिवृत्त-  
नियमौ नास्ति तेषामप्रतिवृत्तगतित्वात् ।

तथा च ब्रह्मण सृष्टौ त्रिगुणामिका प्रकृति सत्त्वरजस्तमोमयी अत एव  
सुखदुःखमोहस्वभावा साङ्ख्यनये सुप्रसिद्धा सर्वेषां चानुभवमिदा 'सर्वप्रकृतेः'  
सुखजननम्, रजसो दुःखम्, तमसो मोह' इति सारयै प्रतिपाद्यते । काव्ये  
कस्याभयानकयो रसयोरपि दुःखमोहौ न भवतः किन्तु सर्वदाऽऽह्लादमात्रमेव ।  
कथमिति चेत् ? सुरते दन्तनखचतादिभ्य इव । अतः कविमृष्टि सदैव ह्लादक-  
मयी आह्लादमात्रस्वभावाऽनुमता । दुःखमोहयोरभावाद् ब्रह्मण सृष्टेरुद्भूतना  
ऽभीष्टमा च ।

घटस्य निर्माणे कार्ये तत्कर्तुं कुलालस्य स्वातन्त्र्यं न हरयते । तत्र कर्त्ता  
कारणपरतन्त्रोऽस्ति । तत्र घटस्योपादानकारणं मृत्तिकैव । सहकारिकारणानामपि  
घटनिर्माणेऽस्तीवावश्यकताऽस्ति । यथा दण्डचक्रघीवरादीनामभावे कुलालो घट  
निर्मातुं न प्रभवेत् । इत्थं तत्र कर्त्ता स्वाद् अन्यानि यानि कारणानि तेषां  
परतन्त्रो भवति । कविनिर्मितौ च कविप्रतिभाया परं न किञ्चिदपि तत्रापेक्ष्यते ।  
अतः कवे सृष्टिरनन्यपरतन्त्रा मता । 'परतन्त्र'शब्दोऽग्राधीनपर्याय एवेति  
समालोचनायामग्रे स्पष्टीक्रियते ।

ततश्च ब्रह्मण सृष्टौ पट्टसा एव सुविधुता । अत्र काव्ये रसानामाधिक्यं नव  
इति । ते शृंगाराद्या नव । अथवा प्रतिकाव्यं नवीना वा । लोके ये पट्टसा सन्ति  
ते सर्वे एव प्राणिमात्राणां हृद्या न प्रतीयन्ते । यथा कट्वादीनां हेयतयाऽनभि-  
रुचे । अतः सा सृष्टिः पट्टसरचिरा इति वक्तुं न शक्या । काव्ये तु सर्वे रसाः  
सदैव हृद्या एव । अतो रचिरा मनस आह्लादमात्रजनका । अतः एव कथिता  
नवरसरचिरेति । एतादृशीं विलक्षणस्वरूपा कविनिर्मितिमादधती कवेर्भारती  
अयति सर्वोत्कर्षेण वर्णते । स्वावधिकोत्कर्षप्रकारकज्ञानजनकोभूतो व्यापारो नमः  
पदार्थः । भगवत्या सर्वोत्कृष्टतया वर्णनात् सर्वान्तःपातिनः कवेर्नमस्कार आचि-  
ष्यते इति ता प्रत्यस्मि प्रणत इति ।

अत्रेदमपि विदपेण बोद्धव्यम् । 'नियतिः' इत्यादि विशेषणैः मीमांसा-  
न्याय-साङ्ख्य-वैशेषिक-वेदान्ताभिमतप्रपञ्चसृष्ट्यपेक्षया कविमृष्ट्यैवैचिष्य प्रति-  
पाद्यते । तथा हि नियतिर्द्वैतम् । तच्च स्रष्टृसुकृतदुष्कृतकर्मरूपम् । तैश्च कर्म-  
भिरात्मानि भोगानुकूला शक्तिः साध्यते । तदनुसारिणी च गतिरिति सा नियतिः-

नियतेति भीमामकसृष्टि । कविसृष्टेस्तु न जन्मान्तरकर्माधीनता । तस्य तत्काल-  
प्रतिभामात्रजन्यत्वात् । सुखदुःखमोहस्वभावात् साङ्ख्यमते प्रकृतिधर्माणां सत्त्व-  
रजस्तमया परिणामेन सर्वस्यापि सुखदुःखमोहात्मता । इयन्तु ह्यादैकमयी ।  
चीमसादिभ्य सर्वेभ्योऽपि सुखस्यैवोत्पत्ते । परमाण्वादीति नैयायिकाभिमतसृष्टे  
वैलङ्घ्य प्रागेव प्रतिपादितम् । पट्टसेत्यनेन वैशेषिकमतसृष्टयोरुत्वं प्रदर्शितम् ।  
न्यायसूत्रेषु प्रमाणप्रमेयादिविचारो, न पदार्थविभाग । स वैशेषिक एव दृश्यते ।  
वेदान्तसृष्ट्यपेक्षया वैचिन्त्यमाह—न च हृद्यैव सैरिति । वेदान्तनये ब्रह्मण  
सुखस्वरूपता । कथमिति चेत्, इच्छान्तरानधीनेच्छाविषयत्वं तावत्सुखत्वम् ।  
इतरासा जनेच्छादीनां तृतीच्छाधीनत्वम् । तृतीच्छायाश्च सुखेच्छाधीनत्वम् ।  
सुखेच्छा त्वात्माधीना । तस्य विच्छेदान्तराधीनत्वं नास्ति इति तत्रैव सुखस्य  
विश्रामात् । तस्य सुखस्वरूपता जगतश्च ब्रह्मण एव परिणामत्वात् सर्वस्यापि  
ब्रह्माभिन्नतया सुखत्वेऽपि तस्यैव ब्रह्मणो कृत्रिकादिपरिणामेन न सुखरूपता ।  
अपि त्वामरादेन रूपेणेयुक्तं न च हृद्येवेति ।

अत्र श्लोकेऽस्मिन् ग्रीष्मेव पदानि विग्रहव्याकृतिपूर्वकं विशेषेण समालोचना-  
हानि । तानि त्रीणि—१ ह्यादैकमयीम् । २ अनन्यपरतन्त्राम् । ३ नवरसरुचि-  
राम्' इति । ग्रीष्मपीमानि पदानि 'निर्मितिम्' पदस्य विशेषणानि । 'निर्मितिम्'  
पदन्तु 'आदधती' इति क्रियापदस्य कर्म भवति । अतः सर्वाणि द्वितीयान्तानि ।

१ ह्यादैकमयीन्—अत्र विग्रह ह्यादेन एकमयी ह्यादैकमयी ताम् । सुप्सुपेति  
समास । अभेदवचने तृतीया 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति वार्त्तिकत्वात् ।  
यथा 'धाम्येन धनमयो ग्राम' इतिउत् । तत्र 'एकमया'—तिपदं सङ्ख्यानचक्रे  
शब्दात् 'तत्प्रकृतवचो मयट्' इति सूत्रेण प्रकृतार्थे तद्धित—'मयट्' प्रत्ययः ।  
प्रकृतमित्यस्य प्राचुर्येण प्रस्तुतमित्यर्थो बोद्धव्यः । एकमेव वस्तु प्रकृत प्राचुर्येण  
प्रस्तुत यस्या सा एकमयी । केचिद् एकपद सरयावाचि न गृहीत्वा मात्रपर्याय  
गृह्णन्ति । तदा 'ह्यादैकमयी' इत्यस्य ह्यादमात्रस्वभावा इत्यर्थो भवति । अनेन  
दुःखमोहौ निराकृतौ भवतः ।

२ अनन्यपरतन्त्राम्—अन्यस्य कविमारतीभिन्नस्य ( समवाय्यसमवायिनि-  
मित्तरूपकारणस्य ) परतन्त्रा अधीना न भवन्ति ताम् अनन्यपरतन्त्राम् । तत्रेत्यं  
विचारणा भवति यत् अन्यपरशब्दयो पुनरुक्तिदोषः सम्भवति वा नवेति ।

तत्र चीजं किल 'परतन्त्र'शब्दस्य कोऽर्थः । पराधीनाधीनपदयोर्मिश्रपर्यायो वा । तत्रामरस्तु—'परतन्त्र पराधीन परवान्नाथवानपि । अधीनो निम्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ' इति वक्ति, तत्र केचित् चत्वारि पूर्वपदानि पराधीनवाचकानि । तथा च पञ्चानन्तरोदाहृतपदानि अधीनवाचकानीति प्रतिष्ठन्ते । तेषां मते 'अन्यपर'शब्दयोरभिन्नत्वेन पौनरुक्त्यापत्तिः । तत्परिहाराय कवे स्तुतिप्रतिभायाश्चान्यो य आत्मन (भारत्या) पर, तदायत्तवरहिताम्, इति वदन्ति । तद्वृत्तिविरुद्धं तथा क्लिष्टमपि प्रतीयते । अमरोक्तमवानामपि पदानामेकपर्यायत्वे स्वीकृते प्रभोऽयं न सम्भवत्येव । अन्यैश्च तथा स्वीकृतमस्तीति तद्वृत्त्यनुसारितयाऽतीव समीचीनमिति प्रतिभाति ।

३ नवरसरुचिराम्—नव नवसरयाका रसा शृङ्गारादयो यस्या सा, अथवा नवा प्रतिकाम्य नवीना रसा यस्यामिति वा 'नवरसा सा चासौ रुचिरा मनोहरा च ताम्—एव बहुव्रीहिगर्भं कर्मधारयः । 'शीतोष्ण जलम्' इत्यादिवद् विशेषणयोरपि मिथो गुणप्रधानभावविबक्षया 'विशेषण विशेष्येण बहुलम्' इति कर्मधारयसमासः । नवाना रसाना समाहार इति 'समाहारस्तु न । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगु खियामिष्ट' इति 'त्रिलोकी' 'पञ्चमूली' इतिवत् 'नवरसी' इत्यापत्तिः । अथवा नवरसेन रुचिरा इति तृतीयातत्पुरुषः । नवरसेत्यत्र नव अवयवा यस्य स नवावयव स चासौ रसरचेति नवरस इति शाकपाथिवादिवाद् मध्यमपदलोपी कर्मधारयः । अथवा नवा प्रतिकाम्य नवीना रसा, अत्र नवाश्च ते रसाश्चेति कर्मधारये 'नवरसा' इति बहुवचनान्तसमासः । तदनन्तरं तृतीयातत्पुरुषे कृते नवरसै रुचिरा नवरसरुचिरेति समासः, ताम् नवरसरुचिराम् । वृत्तौ च 'न च हृद्यैव तै'—इति । हृद्या इति बहुव्रीहिगर्भकर्मधारयस्य तथा तैरिति तृतीयातत्पुरुषस्य सङ्केतितत्वात् ।

नन्वेतादृशे शुरुकर्मणि प्रेक्षावतामिष्टदेवताप्रणतिरवश्यं दृश्यते युक्तिमती च । तदनेन स्तुतिमात्रमाचरता यच्च कृता, तद्वलेपनादज्ञानाद्वा, उभयथाऽप्यनवधेयवचनता प्रसक्ता । अथ कृतैव, तर्हि स्तुतिवज्रोपनिबद्धा, विशेषाभावात्सैव वा किञ्चोपनिबद्धेति चेद् उच्यते । न खलु नतिमात्रोपनिबन्धे स्तुतिर्निबद्धा भवति । स्तुतिनिबन्धे तु अर्थान्नतिरपि निबद्धैव । यतो जयत्यर्थेन वक्तुर्विषयस्य वैशिष्ट्याभ्यस्कार आशिष्यते । तेन 'ता प्रत्यस्मि प्रणत' इति लभ्यते । यत्तत्तमकाव्य-

त्वसिद्ध्ये व्यङ्ग्यं दर्शयति—‘ज्यत्यर्थेन’ चेत्यादि इति वृत्त्यवतारणम् तदयुक्तम् । प्रणामरूपव्यङ्ग्यस्यानतिशयत्वेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वात्, तदर्थं चातिशयिनी व्यतिरेकालङ्कारस्यैवे’पन्यासौचि-यात् । इति ।

प्र० २—कान्यस्य किं प्रयोजनम् ?

उ० २—इहेतिग्रन्थेऽभिधेयं सप्रयोजनम् इत्याह । अभिधेयमुद्दिश्य सप्रयोजनत्वं विधीयते इत्यर्थः । अभिधेयं प्रतिपाद्यो विषय काव्यलक्षणादिरूप सप्रयोजनं सफलम् । अन्यथा निष्फले कर्मणि प्रवृत्तिर्न स्यात् । ततश्चैतद्ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यसाफल्यद्वारैव साफल्यमिति काव्यस्य सावत् साफल्यं दर्शयति काव्यमिति—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ इति ।

अत्र ‘कृत्’ ‘विद्’ ‘युज्’ शब्दा भावे क्तिवन्ताः । काव्यं लोकोत्तरवर्गनानिपु-  
णस्य कवे कर्म लोकोत्तरवर्गनमिष्यर्थः । इतरफलापेक्षया प्राधान्याद् यशसः  
प्रथममुद्देशः । अर्थकृते द्वितीयपुरुषार्थलाभाय । सम्प्रदादित्वाज्जावे क्तिप् ।  
व्यवहारविदाचारज्ञानम् । शानमदसि कथं वर्तितव्यमित्यादि । शिवादितरदमङ्ग-  
लम् । नमङ्गलमरणादिशब्दानामनुच्चार्यत्वात् ‘स कथारोपता यात समालिङ्ग्य  
महत्सलमि’तिषत् । श्रीमन्नारायणादिस्तुत्यपूर्वद्वाराभ्यङ्गलपरिहारो मयूरकवेरिव  
सूर्यशतकेन । स हि कुष्ठरोगपरिषीदितः पञ्चशतकेन सूर्यं स्तुत्वा दिव्यं वपुरास ।  
वानिति लोके प्रसिद्धिः । सहृदयस्य तु काव्यश्रवणानन्तरमेव सकलप्रयोजनेषूत्तमदी-  
न्यादिभावास्वादनसमुद्भूतं वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यं रसास्वादरूपमनुगच्छन् सद्य परान्तरं  
वृत्तिं निर्मिमोते । उपदेशयुजे इति राजादिगतवृद्धिर्वापालनादिसमुच्चितानुरूप-  
परिज्ञानं रामादिवद्वर्तनमिष्टसाधनं न तु रावणादिवदित्युपदेशः च सङ्कल्पेषु  
प्रवृत्त्युपदेशाय दुष्कृत्येषु निवृत्त्युपदेशाय भवति च । काव्यास्वादनकाले कवेरपि  
सहृदयान्तं पातितया रसास्वादे ।

ननु नीनिशास्त्रादेरपि उपदेशपरतया तत्रैव प्रवृत्तिः स्यात् । किमिति काव्ये  
इत्यत आह—‘कान्तासम्मिततयति । तथा हि शब्दस्तावत् त्रिविधः प्रमुसम्मितः,  
सुदृढसम्मितः कान्तासम्मितश्च । तत्राद्यो यथा शब्दप्रधानो वेदः स हि प्रभुरिव



‘त्वमिह कुरु’ इति न समाज्ञापयति । ततश्च नियुक्तानां सन्ध्यावन्दनादौ प्रवृत्ति-  
र्भवति । सुहृत्सम्मितो यथा पुराणेतिहासादि । स तु सुहृदिव ‘एव कृते इष्ट, एव  
कृते चानिष्टम्’ इति सदसन्मार्गमात्रं प्रदर्शयति । न त्वादिशति । तृतीयस्तु ताभ्यां  
विलक्षणं काव्यलक्षणं । स हि कान्तेव सरसकोमलैर्वचोभिः स्वाभिमुखीकृत्यो-  
पदेशं ग्राहयति । ततश्च सुकुमारमतीनां नीरसशास्त्रेष्वक्षयप्रवेशानां राज-  
कुमाराणां सौकर्येण कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशायास्योपयोगः । कटुकपिपादादिषु  
बालानां शर्करायामिवात्रापि हृतरापेक्षया सादृशप्रवृत्तिः स्यादिति सर्वथैव काव्यस्य  
सफलत्वम् । यदाहुः ‘धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च । करोति प्रीतिं  
कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिपेक्षण’मिति ।

काव्याद्यंशं प्रवृत्तिः लभ्यत इति एतद् दृष्टान्तेन दर्शयति—कालिदासादीना-  
मिति । श्रीहर्षादेरपादानात् । धावक इति कविनाम स हि रत्नाश्लीनाङ्गी  
नाटिका श्रीहर्षनाम्ना प्रणीय बहुवनमवाप्तवानिति लोकवादः । समनन्तरमेवेति  
सद्यः परस्परार्थं, काव्यध्वन्याव्यवहितोत्तरक्षणे इत्यर्थः । विगलितमपक्रान्तम-  
न्यद्वेद्यं घटादि यस्मिन् आनन्दं चर्वणादिपर्यायम् । प्रभुसम्मिताशब्दप्रधानवेदादि-  
शास्त्रेभ्य इत्येतस्य, सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणेतिहासभ्यश्चेत्यस्य च विलक्षण-  
मित्यन्नाश्रयः । वैलक्षण्ये हेतुमाह शब्दार्थयोरिति । रसस्य शृङ्गारादेरङ्गभूतो  
व्यापारो व्यञ्जनादि शब्दार्थयोस्तद्विध्याद्यरसाभिन्यञ्जकमात्रतयाऽप्रधानत्वाद्गुण-  
भावेन रसस्यैव प्राधान्यमित्यर्थः । अत एव शब्दार्थप्रधानत्वेऽप्युपपन्नोऽस्य  
। यथायोगमिति—कवेरपि सहृदयान्तरात् तत्त्वेव रसात्त्वाद् इति भावः ।

१८८५ तदेकवेद्यत्वात् ।

तत्पुनः शब्दप्रधानस्य द्वेषात् न तादृशेति प्रचारं व्याख्यानम् । तथा हि वेदस्याऽपौरुषेयत्वात्तद्वता  
तदनेनैव प्रयोजका इति शाब्दीभावना प्रवर्तितेति वेदस्य शब्दप्रधानत्वम् ।  
यद्वा वेदगतानुपूर्वीपाठेनैवापूर्वमुत्पद्यते न तु पर्यायशब्दैः यथा ‘अग्निमीळे’ इत्यत्र  
न ‘वह्निमीळे’ इति । अतस्तस्य शब्दप्रधानत्वम् । अत्रेदं बोध्यम् । शब्दप्रधान-  
वेदस्य नियतं प्रवर्तकत्वेऽपि नरकादिभयात्सन्ध्यावन्दनादौ प्रवृत्तिः न पुनरुत्सा-  
हात् । गुर्वाज्ञाजन्यप्रवृत्तिवत् । पुराणेतिहासनाञ्च सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्त्वेन  
प्रवर्तकत्वेऽपि न तेभ्यो नियमेन प्रवृत्तिः, काव्ये तु नियमेन प्रवृत्तिरुत्साहपूर्विका  
चेति विशेषः । न तु केषाञ्चित् काव्येऽपि प्रवृत्तिर्न दृश्यते तत्कथमिति चेन्न ।

रसास्वादे वासनायाः कारणत्वात्तदुक्तम् 'निर्वासनास्तु रज्जान्तः काष्ठकुड्या-  
रमसन्निभाः' इति ।

प्र० ३—'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादसमुद्भूतं  
विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्' इति वृत्तिः कारिकागतस्य कस्य पदस्य  
सम्भद्यति इति ध्यास्यायतां समीचीनतया सर्वमिदम् ।

उ० ३—कारिकायां 'काव्यं यशसे०' इति प्रयोजननिवेदनावसरे 'सद्यः-  
परनिर्भूतये' इत्यपि प्रयोजनमन्यतरदुक्तम् । तस्य वृत्तिग्रन्थे यद्भाष्यायानं तद्रू-  
पोऽयं प्रश्नः ।

अत्र सद्यःशब्देन 'समनन्तरमेव काव्यश्रवणाभ्यवहितोत्तरक्षण एव' इति  
मिप्पद्यम् । परनिर्भूतये—परा चासौ निर्भूतिश्चेति कर्मधारयसमासे कृते श्रेष्ठार्थक-  
परशब्देन 'विगलितवेद्यान्तरम्' इति निप्पद्यम् । 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्'  
इत्यपि 'पर'शब्दादेव निप्पद्यते । 'निर्भूति'पदस्यानन्दपर्यायः सर्वविश्रुतः ।  
स च रसास्वादनसमुद्भूतः । सकलेषु यशःप्रभृतिषु प्रयोजनेषु फलेषु मौलिभूतं  
शेखरायमाणमिति सकलप्रयोजनमौलिभूतम् । सद्यः समनन्तरमेव काव्यश्रवणस-  
मनन्तरमेव विलम्बासहृत्वाद् काव्यश्रवणाभ्यवहितोत्तरकाल एव रसास्वादनसमु-  
द्भूतम् रस्यते आस्वाद्यते प्रकारयतेऽनेनेति रसो रस्यादिस्थायिभावः । तस्या-  
स्वादनं नाम विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोजनं तेन समुद्भूतं निप्पद्य-  
मित्यर्थः । अथवा रस्यते इति रसः पानकरसन्यायेन चर्च्यमाणः । आस्वा-  
दनमास्वादः सुखस्वरूपम्, समुद्भूतः स्वप्रकाशो ज्ञानरूपोऽनुभूयमानरूपो वा ।  
अत्र रसास्वादनसमुद्भूतमित्यत्र त्रयाणां पदानां कर्मधारयः । रसश्च तदा-  
स्वादनञ्च तत्समुद्भूतश्चेति । विगलितवेद्यान्तरं विगलितमस्तमितं वेद्यान्तरं  
स्वातिरिक्तविषयान्तरं यन्निति । अन्यद् वेद्य वेद्यान्तरम् । स्वस्यात्मनो ज्ञानरूप-  
विषयादन्यद् घटपटादि तज्ज्ञानविषयो यत्र नास्त्येव तथा । पदार्थज्ञाने घटो  
विषयः ज्ञान विषयि । अत्र ज्ञानरूप आनन्द एव विषयो विषयी चेति उभौ  
तदात्मकावेव । अत एवोच्यते 'स्वविषयातिरिक्तवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यम्' इति ।  
अतः सर्वेयं पंक्तिः समासेनैवेत्यं व्याख्यायते । सत्त्वपञ्चेतादृशेषु फलेषु सकल-  
फलमूर्धाभिषिक्तः काव्यश्रवणाभ्यवहितोत्तरक्षण एव विभावानुभावव्यभिचारि-  
परिपोषितः साधारणीकरणात्मकेनालौकिकव्यापारेण स्वत्वपरत्वादीनां प्रमोषेण

इयेतत्प्रकाशानुभवशून्यो मन्त्रारम्भ इव समावृत्तौ भवति । न ह्यत्र समावृत्त-  
परा प्रपञ्चनया निर्वृत्तज्ञानम् प्रधानशब्दपरम् । यद्वद्वादादिपदसंग्रहो  
रम्यरूपवर्गो—'अस्य स्वरूपव्ययनगर्भ आभासाद्वयहारः कथ्यते' इत्युपक्रमः—

मत्स्योद्देशादुपस्थापयन्नाज्ञानमुद्विग्नमपः ।

पञ्चान्नरूपं शून्यं ॥ अन्नं वा द्रव्यं वा ॥ ४ ॥

होकोत्तरचमत्कारमात्रं, वैभिन्नमातृभिः ।

रथावारयशुभिचयैनायमाशयने रथः ॥ इति ।

प्र० ४—काव्यस्य कारणमभिधाय शक्त्यादीनां कारणत्वं तुल्यार-  
णिमजिन्यायेन दृष्टव्यमचीयत्न्यायेन येति प्रतिपादयत ।

[illegible]

लोकेति । तत्र स्थावरजङ्गमात्मको लोकः । तस्य चोपचारात् लोकवृत्ते पर्यवसानम् । लोकव्यवहारानभिज्ञस्य वर्णनाविस्तारचातुर्यस्यासम्भवात् । शास्त्रं व्याकरणादि । अशास्त्रनिर्मितकाव्यस्य च्युतिसंस्कृतत्वं छन्दोभङ्गादिदोषप्रस्त-  
तयोपहसनीयतैव । काव्यं महाकविसम्बन्धि रघुवशादि । काव्यस्य निर्माणे विस्तृतौ च पौन पुन्येन प्रवृत्तिरभ्यास काव्यस्य तृतीय कारणम् । तत्र हेतुमाह-  
काव्यज्ञेति । काव्यज्ञा काव्यनिर्मातार काव्यवेत्तारश्च । तेषां शिष्या रहस्योप-  
वेशेन । अकाव्यज्ञानां शिष्या कविसमपादिक न ज्ञायेत । 'इति' शब्द सकलो-  
पस्थापनाय । तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे विस्तारे च हेतुः । काव्यत्वावच्छिन्न-  
जन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकताप्रतियोगिकपर्याप्यनुयोगितावच्छेदक त्रिवि-  
मिति भावः । एतदेव वृत्तावाह 'हेतुर्न तु हेतव' इति । प्रत्येकपर्याप्तत्वे हेतव इति  
स्यात् । 'न तु हेतव' इत्यनेन न स्वरूपयोग्यतायां निषेधः । किन्तु फलोपधाया-  
तायाः । तुगारगिमिस्थले तुगघणितकूकारादिसामग्रीसमवधाने दाहवत् अत्र  
शक्त्याद्यभ्यतमघटितलेखन्यादिसामग्रीसत्त्वे लोकोत्तरवर्णनात्मक काव्यं न जायते ।  
कारणत्वं कार्याभ्यवहितप्राकृष्टवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं व्यापकत्वस्वरूपम् ।  
यत्र-यत्र कारणं तत्र तत्र सर्वत्र कार्यमिति न नियमः । कपालादीनां सत्त्वेऽपि  
घटाद्यभावदर्शनात् । सामग्रीत्वे तु व्याप्यत्वरूपम् । सामग्रीसत्त्वेऽवश्यं तत्सत्त्वात् ।  
ततश्च शक्त्यादिषु प्रत्येक स्वरूपयोग्यतारूपकारणत्वे स यपि न तत्र सामग्रीत्व-  
दृग्दृक्कषीवरादीनामिव । अपि तु तत्समुदायवृत्तिः । ततश्च काव्यत्वावच्छिन्न-  
जन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकत्वमेकत्वविशिष्टं समुदायरूपम् । तद्वन्तः शक्ति-  
निपुणताभ्यासा इति बोधः ।

प्र० ५—कारिकायां 'इति हेतुस्तदुद्भवे' इति यदुदितं तथाच वृत्तौ  
'त्रयं समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे  
च हेतुर्न तु हेतव' इति यदुक्तं तस्याशयं निशदं प्रतिपादयत ।

उ० ५—'इति हेतुस्तदुद्भवे' इति । इतिशब्द पृथक्परामर्शकः । शक्ति-  
निपुणताभ्यासा इत्यर्थः । तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्माणे हेतुः । अत्र हेतुशब्दो-  
त्तरैकवचनार्थः । एतत् तस्य कुत्रान्वय इत्याशङ्कायां प्रययानां प्रकृत्यर्थान्वित-  
स्वार्थबोधकत्वनियमात् । हेतुपदार्थं हेतुविशिष्टव्यक्ती हेतुवे वा अन्वयो वाच्य-  
पर पदार्थं पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेत्येव व्युत्पत्तिस्तस्यार्थः । पदार्था-



प्र० ॥—काव्यस्य लक्षणं सोपपत्तिकं निपुणं निरूपयत ।

उ० ६—‘तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि’ इति कारिका  
एवमस्य कारणमुक्त्वा सम्प्रति काव्यस्वरूपमाह ‘तददोषौ’ इति । शब्दार्थौ तदि-  
त्यन्वयः । दोषः साक्षात्परम्परया वा रसप्रतिबन्धकः । गुणः समवायवृत्त्या काव्य-  
शोभाकरः । गुणानां रसनिष्ठत्वात् तद्व्यञ्जकमधुरादिवर्गपरं गुणपदमुपचारात् । ननु  
सालङ्कारस्वरिशेषगानुपन्यासात् अनलङ्कारे काव्यलक्षणमतिव्याप्तमित्यत आह—  
‘अनलङ्कृती पुन क्वापि’ इति । सर्वत्र सालङ्कारावत्र शब्दार्थौ काव्यम् । क्वचित्तु  
स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वमिति । नञोऽप्यपार्यङ्गत्वात् । तस्यास्फुटत्वं एव  
पर्यवसानात् । यत्तु नीरसेऽप्यस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिति तत्र । रसालङ्कारयोरेव  
यमकारहेतुत्वात् । तथा च रसवत्त्वे स्फुटालङ्कारविरहपि न काव्यत्वहानिर्न तु  
रसाभावे । क्वापीत्यस्य यत्र रसादीनामवस्थानं तत्रेत्यर्थः । नीरसेऽप्यनलङ्कारे किं-  
निमित्तमन्वकारः स्यात् तस्मादलङ्कारमात्रं च न विशेषणम् । किन्तु स्फुटालङ्कार-  
रसान्यतरत्वम् ।

यत्तु नवीना दोषाणां दुःपरिहरतया ‘वाक्य रसामक काव्यम्’ इति सद्दोष-  
स्यापि काव्यचमत्क्रीकुर्वन्ति । तथा हि निर्दोषं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं  
वा स्यात् । ‘कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता । दुष्टेऽपि मता यत्र रसाद्य-  
नुगमः स्फुटः’ इति । तत्र दोषसामान्याभाववत्त्वस्यैव तल्लक्षणत्वात् ।

अथ विशिष्टस्वरूपमाह—तददोषाविनि । अदोषौ शब्दार्थौ काव्यम् । अत्रा-  
दोषपदेन दोषसामान्याभाववत्त्वं चेत्काव्यलक्षणमुच्यते तदा ‘न्यङ्कारो ह्ययमेव’  
इत्यादिश्लोकस्य विधेयानिमिश्रदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यादिति चेदिष्टापत्तिः ।  
तादृशकाव्यस्यैतल्लक्षणोद्देशथावच्छेदकानाक्रान्तं वाञ्छेतत्काव्यसामान्यलक्षणम्, अपि-

॥ इत्याहुः यमवृत्तिनिवृत्त्युपपदशपर्यवसायियशभादिप्रयात्कलाकात्तरवर्णनात्म-  
कस्य काव्यस्य । न हि दुष्टेषु काव्येषु यशभादिप्रयोजकता सम्भवति ।  
नन्वेव तर्हि दुष्टं काव्यमिति व्यवहारः कथम्, तस्य भवन्मतःकाव्यत्वादिति चेन्न ।  
दुष्टो हेतुरितिवत् तस्यौपचारिकत्वादेयात् । तत्र च हेतुपदेन हेतुवाभिमतस्य  
ग्रहणात् । ततश्च ‘न्यङ्कारो ह्ययमेव’ इत्यत्र न तादृशविशिष्टकाव्यत्वमित्येव सिद्धान्तः ।  
एतेन ‘कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यतयादिमतमपास्तम् ।

शब्दार्थाविति । तच्च काव्यत्वं शब्दार्थोभयव्याप्तकम् । तथा हि काव्यं

पठतीत्यादि प्रयोगदर्शनेनार्थस्य पठनासम्भवाच्छब्दपाठमात्रेण तथा व्यवहारा-  
च्छब्दे, शब्दपाठमात्रेण काव्यप्रयोजनस्य रसास्वादस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्वा अभावेना-  
र्थोऽपीत्युभयत्रावश्य स्वीकार्यमिति भावः । यत्तु कैश्चिच्छब्दमात्र एव काव्यत्वमि-  
त्युक्तम्, तन्न । मूलमात्राप्येतु काव्यज्ञ इति व्यवहारादर्शनात् । किन्तु शब्दापेक्षया  
अर्थाश्रितानामलङ्काराणां गुणानां दोषाणामर्थशक्तिमूलध्वने आधिक्येन प्रतिपाद-  
नादर्थस्याकाव्यत्वे विस्तरस्यानुपयोगाच्चत्रापि काव्यत्वमवश्य स्वीकार्यमेव । 'काव्य-  
श्रुतम् अर्थो न ज्ञात' इत्यादौ प्रयोगोपपत्तिस्तु 'समुदाये प्रवर्तमानः शब्द-  
एकदेशेऽपि वर्तते' इति भाष्योक्त्या एकदेशे व्यवहारमादाय, यथा वस्त्रैकदेशे वस्त्रे  
वस्त्रं द्रव्यमिति यथा तैलं शुक्लं घृतं शुक्लं, पूर्वं पाञ्चाला इत्यादौ ।

सगुणाविति । ननु गुणानामुत्कर्षमात्राधायकतया काव्यलक्षणे तदुपन्यासो  
व्यर्थ इति चेन्न । दोषाभावस्य हेयतापादकत्वाभावेऽपि नोपादेयतापादकत्वम् अपि  
तूपेक्षणीयकत्वम् । न हि निर्गुणस्य दोषाभावमात्रेणोपादेयता हर्यते । तादृशो-  
पेक्षणीयविषयाणां बहुशो वर्तमानत्वात् । सगुणत्वं तु समवायवृत्त्या काव्यशोभा-  
करत्वं लक्षणेऽवश्य वाच्यम् । अलङ्काराणां तु लोकवत् सर्वदाऽनवस्थानात् तेषां  
सयोगवृत्त्या वर्तमानतया क्वचित् ( यत्र रसस्य स्फुटं प्रतीतिः ) तदभावेऽपि न  
काव्यत्वहानिः । तथापि 'न कान्तमपि निर्भूय विभाति यनिताननम्' इति  
दिशा अलङ्कारां काव्यशोभाकरा इति तेषां स्थितिरावश्यक्येति भवति उक्तम्  
'अनलङ्कृती पुनः कापि' इति ।

प्र० ७—'अनलङ्कृती पुनः कापि' इति काव्यलक्षणार्हं स्फुटं प्रति-  
पाद्य सौदाहरणविमर्शपुरःसरं सुष्ठु व्याख्यायताम् ।

उ० ७—'तददोषी शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः कापि' इति काव्य-  
लक्षणम् । तत्र 'अनलङ्कृती' इति द्विवचनं 'शब्दार्थौ' लक्षयति । अतस्तस्य  
विग्रहः 'न विद्यतेऽलङ्कृतिर्योस्तौ' इति सम्पद्यते । अत्र नञ्पदमलपार्थक्यत्वेन  
बोध्यम्, न स्वभावार्थकम् । नञोऽर्था षट् प्रकीर्तिता यथा—'तत्सादृश्यं तदन्यत्वं  
तदल्पत्वं विरोधिता । अप्राशस्त्यमभावश्चेति । अलपार्थक्यत्वमत्र 'अस्फुटार्थत्वम्'  
त्वेन ननु पुनः कापि इति पदद्वयेन वृत्तिः दर्शयति—यत्सर्वत्र सालङ्कारी, क्वचित्  
स्फुटालङ्कारविरहेऽपि ( रसवत्त्वे ) न काव्यत्वहानिरिति । अत्रेदं बोध्यम् ।

७ नीरसेऽप्यस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिति तन्न । रसालङ्कारयोरेव चमत्कारहेतु-

त्वात् । तथा च रसवत्त्वे स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्ववृत्तिः नतु रसाभावे । अतः 'कापि' इत्यस्य यत्र रसादीनामवस्थानं तत्रेत्यर्थः । नीरसेऽप्यनलङ्कारे किञ्चिन्मित्रमङ्कारः स्यात् । तस्मादलङ्कारमात्रं न विशेष्यम् । किन्तु स्फुटालङ्काररसान्यतरत्वम् । अलङ्काराणाम् लोकावसर्वादाऽनवस्थानात् तेषां सयोगवृत्त्या वर्तमानतया कश्चित् ( यत्र रसस्य स्फुटताति ) तदभावेऽपि, न काव्यत्वहानिः । तथापि 'न काव्यमपि निर्मूय विभाति यनिताऽऽननम्' इति त्रिंशोऽलङ्काराः काव्यशोभाकरा इति तत्सत्ताऽप्यपेक्षिता । अतः उक्तम्—'अनलङ्कृती पुनः कापि' इति । अतः एव चन्द्रालोककारकृतोऽयमारोपः—'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती । असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती' इति, अत्र चरितार्थो न भवति । अत्र नमोऽभावार्थं मनसि निधायोक्तं तेन । काव्यप्रकाशेऽलङ्काराणामभावो न कदापि प्रतिपादितः । रसादिस्थले स्फुटालङ्कारविरहत्वमेव ।

अत्रोदाहरणेन स्वाभिमतं विशदीकरोति यथा—'यः कौमारहरः' इति पद्यम् । नन्वत्र चैत्रचपासु मालतीकदम्बविकासः कथम् ? तयोः प्राधृपेयत्वादिति चेन्न । वसन्तस्य कुसुमाकरत्वात् सर्वेषां कुसुमानां तत्र विकाससम्भवादिति केचित् । परन्तु वसन्ते मालतीवर्णनस्य कविसमयविरुद्धतया नैतत् सम्यक् । अतः एव कदम्बानिला इत्यस्य 'कदम्बाकारा अनिला' इति व्याख्यानं न निर्वाहः । कदम्बसमाधानेऽपि मालतीवर्णनस्य 'मालत्यास्तु विशेषतः' इति विशिष्य कविसमयविरुद्धत्वात् । अतः चित्रानलत्रयुक्ता चपा इत्येवोत्तरं वक्ष्यम् । ततश्च वर्षावसाने चित्रानलत्रयुक्तासु चपासु मालतीकदम्बवर्णनं सम्यगेव ।

अत्रोदाहरणे स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः । तथाहि कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिविभावना । उत्कण्ठा प्रति वरगतनवीनत्वादि कारणम् । तदभावेऽप्युत्कण्ठारूपकार्योत्पत्तिविभावना । स च नवीनत्वाद्यभावो जाभावमुखेन 'स एव हि वरः' इत्यादिना वर्णित इति तस्यास्फुटत्वम् । अथवा 'कारणाभावे कार्योत्पत्तिविभावना' इत्यत्र 'कारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववर्गं विभावनेति तदर्थः । उत्कण्ठा प्रति कारणस्य वरगतनवीनत्वाद्यभावे यद्यपि 'स एव हि वरः' इत्यादिनाऽर्थोदापतितस्तथापि न स शब्दतो वर्णित इति विभावनाया अस्फुटत्वम् ।

कारणसत्त्वेऽपि कार्योत्पत्ति-विरोधोक्तिः । तथा च प्रकृतेऽनुत्कण्ठाकारणानां



धरगतोपभुक्तवादीनां सत्त्वेऽपि उत्कण्ठभावरूपकार्यानुत्पत्तिः । यद्यपि द्वितीया-  
भावस्य पूर्वाभावप्रतियोगित्वरूपत्वादुत्कण्ठभावाभाव उत्कण्ठारूप 'चेत समु-  
त्कण्ठते' इत्यादिनोक्तं, तथापि नोत्कण्ठभावाभावरूपेणेति तस्या अस्फुटत्वम् ।  
यद्वा कार्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभाववर्णने विशेषोक्तिस्ततश्चात्रोत्कण्ठभावरूप  
कार्याभावस्यार्थादापतितत्वात् तस्या अपि अस्फुटत्वम् । 'चेतो न समुत्कण्ठते  
इति न' इत्युक्ता तु सा स्यात् ।

यत्तत्र दर्पणकार 'अत्र विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य सन्देहसङ्कराद् अलङ्का-  
रस्य (सङ्करालङ्कारस्य) स्फुटत्वमिति तत्प्रामादिकम् । विभावनाविशेषोक्तयोरेस्फु-  
टत्वेन तयोः सङ्करस्याप्यस्फुटत्वात् ।

तन्त्र शृङ्गाररसस्य स्फुटत्वादसवदलङ्कार स्फुट इति चेन्न । रसस्यात्र  
प्राधान्यात् । अप्राधान्य एव तस्यालङ्कारस्याङ्गीकारत्वात् ॥ इति ।

प्र० ८—काव्यभेदानुपत्त्या ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यपोक्ष्य स्वरूपं प्रदर्श्य  
सोदाहरणं भवन्मतं विशदीभियताम् ।

उ० ८—काव्यप्रकाशकृता काव्यस्य त्रयो भेदाः प्रतिपादिता उत्तममध्य  
माधमभेदेन । तत्रोत्तमसाध्यस्य ध्वनिवाक्यमिति अपरपर्यायम् । तत्स्वरूपमाह—  
'इदमुत्तममनिशयिनिव्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथित' इति । अस्यान्वयार्थं पूर्वं  
भवति । इदं काव्यम् वाच्याद् अभिधावृत्तिप्रतिपाद्याद्याद् व्यङ्ग्ये व्यञ्जनावृत्तिप्र-  
तिपाद्येऽर्थे अतिशयिनि अधिकचमत्कारकारिणि सति उत्तमम् । तदेव बुधैः ध्वनि-  
पण्डितैः 'ध्वनिर्' इत्युच्यते । यथा—उदाहरणम्—'नि शेषच्युतचन्दनं' पद्यम् ।

अत्र 'चन्दनस्य स्तनतटे नि शेषच्यवनमधरस्य रागराहित्यम्, नेत्रयो-  
प्रान्तभागोऽनजनःत्वम्, तनोः शरीरस्य कृशता तथा च रोमाञ्चोद्गमः' पृथानि  
लक्षणाणि दूतीसम्भोगस्य तथा वापीस्नानस्य च समानानि । अत्र नायिका तस्या  
प्रियकरसकाशे दूर्तीं प्रेषितवती इति 'दूति' इति सम्बोधनेन सूचितं भवति, सा  
दूती नायिका प्रत्यागय 'मया नायक प्रति गत्वा बहुधा प्रसादितोऽपि नागतः स-  
अतोऽहं वापीं स्नानु गता तदनन्तरमग्रागते'ति दूया कथनं 'मिथ्यावादिनि'  
इत्युक्तवाद्यायिका तदनृतं मन्यते कथयति च स्वयाऽप्यट्टाचरणेन धान्धव-  
घनानां कीदृशं पीडागमं सञ्जात इति न ज्ञातम् । अतिपीडाकरं तदाचरणमि-  
दानीं सञ्जातम् । इति कथयित्वा नायकस्य प्रतारणां दूतीसम्भोगेन नायिकाया  
विमलम्भोदीपनं मानसीं पीडां च व्यञ्जयितुं नायकस्य कृते 'अधम'शब्दस्य

प्रयोगं करोति । येन स्वं वाणीं स्नातुं न गताऽस्ति, तस्याधमस्यान्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति वाच्यादतिशयिनि व्यङ्ग्ये सति तस्योत्तमकाव्यत्वं ध्वनिकाव्यत्वं वा ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मध्यमकाव्यस्य लक्षणं तु ग्रन्थकृता एवमुक्तम्—‘अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्’ इति । अतादृशि वाच्यादनतिशयिनि वाच्या-  
पेक्षयाऽतिशयितचमत्कारानाधायके व्यङ्ग्ये यत्र व्यङ्ग्यं वाच्याद् गुणीभूतमित्यर्थः ।  
तदा तत्काव्यं मध्यमं गुणीभूतव्यङ्ग्यं बोध्यते ।

व्यङ्ग्यस्य वाच्यादनतिशयस्तु द्विप्रकारको न्यूनत्वेन तुल्यत्वेन च । अत्र न्यूनत्वस्योदाहरणं दत्तम् । ‘ग्रामतरुण तरुण्या भववञ्जुलमञ्जरीसनायकरम् । परय-  
न्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया’ । इति । अत्र ‘भववेतसमञ्जरोमण्डित-  
करं ग्रामतरुणं मुहुः परयन्त्यास्तरण्या मुखच्छाया नितरां मलिना भवति’ इति  
वाच्यार्थः । व्यङ्ग्यार्थश्च दत्तसंकेता काचिदुपनायिका तत्र न गता, उपनायकश्च  
अधुनैव वञ्जुललतासङ्केतस्थाने गत्वैव प्रतिनिवृत्तः इति ‘नवे’तिपदेन ‘मञ्जरीस-  
नायकरम्’ इति पदेन च व्यज्यते । व्यङ्ग्यमिदं ‘वारं-वारं ग्रामतरुणं परयन्त्या-  
स्तरण्या मुखच्छाया मलिना भवति’ इति वाच्यार्थाच्चातिरमणीयम् । अत एव  
चमत्काराऽजनकम् । व्यङ्ग्यमत्र गुणीभूतं वाच्यमेवातिशयितम् । एवमिदं मध्यम-  
काव्यस्योदाहरणम् । तुल्यप्राधान्यस्योदाहरणं ‘ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतानेव  
भूतये । जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते’ इति पञ्चमोद्घाते दत्तम् । अत्र  
जामदग्न्यः सर्वेषां वृत्रिणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य  
‘अन्यथा दुर्मनायते’ इति वाच्यस्य समं चमत्कारित्वमिति तयोस्तुल्यप्राधान्यम् ।  
इदमपि गुणीभूतव्यङ्ग्यमेव ।

प्र० ९—व्याप्यायतामियं निम्नोद्धृता वृत्तिगता पङ्क्तिः काव्ये  
ध्वनिव्यवहारस्य समूलताप्रतिपादनाय—‘इदमिति काव्यम् । युधैर्वैया-  
करणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यव-  
हारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भाचितवाच्यव्यङ्ग्य-  
व्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य’ इति ।

उ० ९—अत्रान्ते ‘शब्दार्थयुगलस्येत्यनन्तरं ‘ध्वनिरिति व्यवहारः क्रियते’  
इत्यप्यादृतं बोध्यम् । ‘इदं’ पदेन काव्यमिति प्रोक्तमेव । अत्र ध्वनिकाव्यमिति  
ज्ञातव्यम् । ध्वनिव्यवहारस्य समूलतामाह—युधैरिति । युधा अत्र वैयाकरणाः  
पतञ्जलिप्रमृतयः । तथा च तदनुसारिणोऽप्येव आलङ्कारिका आनन्दवर्धनाचा-

यादय । वैयाकरणानां मते ध्वनिशब्दस्य प्रयोग प्रतिपाद्यते । प्रधानभूतस्फोट-  
रूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्येति । अस्य विग्रह 'प्रधानभूतो य स्फोटः, तद्रूप-  
यद्वयद्वय तद्वयञ्जकस्य शब्दस्यति, अर्थप्रत्ययरूपफलोत्पादकत्वात् स्फोटस्य प्राधा-  
न्यम् । स्फुटयति प्रकाशयति अर्थमिति स्फोटः । शब्देषु ये वर्णाः सन्ति ते छणिक्  
आशुविनाशिनः । अर्थबोधे प्रत्येकवर्णानां कारणत्वे राजादिपदघटितैकवर्णादपि  
राजविषयकबोधोपपत्तिः । वर्णसमुदायस्य कारणत्वे 'योग्यविभुविशेषगुणानां स्वी-  
रोत्पन्नगुणानां सत्त्वादुत्तरोत्तरवर्णोत्पत्तिक्षणे पूर्वपूर्ववर्णध्वसेन कारणाभावाद् बोधो न  
स्यात् । अतः पूर्वपूर्ववर्णसंस्कारसहितचरमवर्णश्रावणप्रत्यक्षस्य कारणवस्वीका-  
रेऽपि संस्कारस्थितेरन्वयमिकतया एकस्माच्छब्दात्तावन्मात्रम्युक्तमवर्णध्वञ्ज्य-  
जन्यार्थबोधः स्यात् । ततश्च 'नदी' 'दीन' इत्येतयोः समानवर्णतयाऽन्योन्यसम्योन्य-  
बोधयेत् । इत्यर्थबोधे स्फोटाक्षयं ब्रह्मैव ( शब्दब्रह्मैव ) कारणम् । अतो घटादि-  
भिर्वर्णसमुदायरूपैः छणिकैः पदैः स्फोटरूपो नित्यः शब्दो व्यज्यते । अतः एव  
वैयाकरणानां मते शब्दो नित्यः । तेन चाभिव्यक्तेनार्थः प्रतीयते । तादृशस्य  
प्रधानीभूतस्फोटव्यञ्जकस्य वर्णसमुदायस्वरूपस्य घटादिशब्दस्य 'ध्वनि' इति  
वैयाकरणानां सज्ञा । अस्याशयस्तु शब्दानुशासने स्पष्टीकृतः । तद्यथा—'अय-  
गौ' इत्यत्र कः शब्दः किं यत्साक्षाद्गूलकजुदसुरविपाणार्थरूपः स शब्दः  
नेत्याह । द्रव्यं नाम तत् कस्तर्हि शब्दः । येनोच्चारितेन साक्षाद्गूलकजुदसुर-  
विपाणवत् सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः । स एव लोके ध्वनिपयाय यथा शब्द-  
मां कुरु, शब्दकार्यं माणवकः, इत्यत्र ध्वनिं मां कुरु ध्वनिकार्यं माणवक-  
इत्येवार्थो बोध्यते । अतो 'ध्वनिः शब्दः' इति महाभाष्ये प्रतिपादितम् । ततश्च  
घटो वैयाकरणैरेव व्यवहारः कृतस्तस्मादन्यैरपि बुधैरानन्दवर्धनाचार्यप्रभृतिभिरा-  
लङ्कारिकैः स्वचरन्यालोकप्रभृतिषु ग्रन्थेषु न्यग्भाषितमुपसर्जनीकृतं अप्रधानीकृतं  
धाच्यमुपयोऽर्थो येन तादृशस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जने ध्वनने समस्य योग्यस्य समर्थस्य  
शब्दार्थयुगलस्य तद्रूपस्योत्तमकाव्यस्य ध्वनिरिति व्यवहारः क्रियते इत्यर्थः ।  
रसस्यात्र वाक्ये प्राधान्यात् शब्दार्थयोश्च तद्वयञ्जकत्वात् अस्माभिरपि तयोर्ध्व-  
निरिति व्यवहारः कृत इत्यापन्नम् ।

इति प्रथमोऽङ्कात् समाप्तः



## अथ द्विर्नयोल्लासः

प्र० १—शब्दानां कतिधा वृत्तिः स्वीनियते ? अलङ्कारेतरनयेषु अस्मिन्विषये किमभिप्रेतम् ? अलङ्कारनये को विशेषः ? इत्येतत् सर्वं सोपपत्तिकं प्रतिपादयत ।

उ० १—‘स्याद्वाचको लक्षगिक शब्दोऽत्र व्यञ्जकविधा’ इति कारिका । अत्रेति काव्ये । शास्त्रे वैयाकरणानां मते बोधजनकतामात्रं शक्तिः । ‘गङ्गाया घोष’ इत्यादौ गङ्गाशब्दस्य तीरबोधकताऽस्तीति तदुपस्थितिं शक्तिरभ्यैव । सा च शक्तिर्द्विविधा प्रसिद्धाऽप्रसिद्धा च । तन्नाद्याऽभिधेयुष्यते । द्वितीया लक्षणेति च । व्यञ्जनाऽपि यद्यपि तै स्वीकृता, परन्तु तस्या स्फोटप्रतीत्यनुकूलता, नार्थप्रतीत्यनुकूलता । अर्थाभिधायकत्वं तु स्फोटस्मेति, शब्दस्य शास्त्रात्मकत्वा-  
द्वैवविध्यम् ।

नैयायिकास्तु गङ्गायां घोष इत्यत्र शक्त्या प्रवाहावच्छिन्नविषयकोपस्थितौ सत्यामेकसम्बन्धज्ञानेन तीरविषयकोपस्थितौ निर्व्यूढायां तत्रेच्छाकल्पनप्रयासो व्यर्थ इति वदन्ति ।

तन्नालङ्कारिका । गङ्गाशब्देन शक्त्या प्रवाहज्ञाने सति लक्षणाया च तीरस्यो-  
पस्थितौ वृत्तायां शैत्यपावनत्वादिप्रतीतिर्न स्यादिति तत्प्रतीतये ‘व्यञ्जना’नामिका  
द्वितीया वृत्तिरुपास्यते । न च शैत्यपावनत्वादिप्रतीतिर्मानसीति वाच्यम् । सर्वासा-  
मिव एतस्या अपि मानसत्वेऽपि गङ्गाशब्दाम्बयस्यतिरेकाभ्यामेव तज्जन्य-  
त्वस्य वक्तव्यतया प्रतीतेश्च वृत्तिं विना शब्दजन्यत्वासम्भवान्मध्ये तत्पयोजिका  
व्यञ्जनावृत्तिः स्वीक्रियते इति वाचकम्यञ्जलक्षणात्मतया त्रैविध्यं शब्दस्य ।

तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् । आकाङ्क्षायोग्यतासंविधिवशाद्वाच्यादीनामर्थानां  
तत्तत्पदार्थोऽपि सति सम्बन्धज्ञानं वाक्येन भवति तत्र शक्तः ‘शब्दबुद्धिकर्मणा  
विरम्य व्यापाराभावः’ इति नयनं चीणतया सम्बन्धप्रतीतये वाक्यपर्याया तद-  
व्यप्रतीतीच्छयाऽनुचारितत्वे सति तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वरूपा तात्पर्याख्या वृत्तिः  
स्वीक्रियते इति मीमांसकाः । तत्र पदपर्याया अभिधा ज्ञाता सती कारणम् ।  
तात्पर्याख्यवृत्तिस्तु स्वरूपसती कारणमिति विशेषः । एवमस्वीकारेऽभ्युतपूर्वाभि-  
भवकविविचिताद्वाक्यकवम्बकाद् बोधो न स्यात् । न च नैयायिकाभिमतकाङ्क्ष-

यैव सम्बन्धज्ञाननिर्वाहेऽलं तात्पर्यार्यवृत्त्या इति वाच्यम् । देवदत्तस्य दर्शनमित्यादौ देवदत्तकर्तृकतत्कर्मोभयबोधानुकूलाकाङ्क्षासत्त्वेन तत्रान्यतर-  
बोधस्य दुरुपपादत्वात् ।

ननु यन्निष्कारूपतात्पर्यज्ञानेनैवान्यतरबोधे किमर्थमतिरिक्ता वृत्तिः स्वीक्रियते—इति चेन्न । तादृशेच्छाया लौकिकवाक्येषु यत्कुं शक्यत्वेऽपि वैदिकवाक्येष्वपौरुषाणां तेषां वक्तुरभावात् । तदिच्छाज्ञानासम्भवात् । न चाध्यापकेच्छाज्ञानाधीनमेव तज्ज्ञानमिति वाच्यम् । अध्यापकस्याव्युत्पन्नदशायामपि व्युत्पन्नानां तदुच्चारितवाक्याद् बोधदर्शनात् । अत आकाङ्क्षाऽनिर्वाह्या । यन्निष्कारूपतात्पर्यज्ञानासिद्धा वाक्यपर्याप्ता तात्पर्याख्या वृत्तिः स्वीक्रियते—इति अभिहितान्वयवादिनः ।

अत्रान्विताभिधानवादिनः—विषयतासम्बन्धेन शब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितेः कारणत्वात् पदनिष्ठशक्यनिरूपकस्य सम्बन्धस्य प्रतीतिर्न स्यात्, यदि संसर्गताभिन्नविषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितेः कारणत्वमुच्यते, तदा कारणतावच्छेदकताधिक्यप्रयुक्तं गौरवं स्यात् । अतो लाघवात्पूर्वोक्त एव कार्यकारणभावो वाच्यः । ततश्च पदनिष्ठशक्यनिरूपकत्वे सम्बन्धस्य प्रतीतिर्न स्यात् । इति सम्बन्धविशिष्टार्थे एव पदानां शक्तिः । ननु तर्हि तस्यापि वृत्तिनिरूपकत्वे पदेनैव सम्बन्धज्ञानाच्छान्दबोधस्यापूर्वानुपपत्तिरिति चेन्न । सम्बन्धस्वरूपेण सम्बन्धे ज्ञातेऽपि सम्बन्धविशेषस्य पदेनाप्रतीतिः । इति ।

प्र० २—सधिस्तरं सोपपत्तिकं व्याख्यायताम्—‘तात्पर्यार्थोऽपि केपुचित्’ तथा ‘वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः’ ।

उ० २—तात्पर्यार्थोऽपि केपुचिदिति । अत्र पदैः, शक्त्या उपस्थितानामर्थानां पञ्चादन्वयः—स्वीकुर्वाण अभिहितान्वयवादिनः । ‘गङ्गायां घोष’ इत्यादौ शक्त्या प्रवाहरूपार्थे उपस्थापिते ‘शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव’ इति नयेन शक्तेर्विरतत्वाल्लक्षणया तीररूपेऽर्थे ज्ञाते प्रयोजनस्य शैत्यपावनत्वादेर्व्यञ्जनया प्रतीतिर्भवति । अत्र च सम्बन्धप्रतीतिः केनेत्याशङ्कायां नैयायिकाः—‘यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेद् आकाङ्क्षा’, इत्युक्ताकाङ्क्षाज्ञानेनैवाधिकरणरूपार्थोपस्थिति—’रित्याहुः । परमेवं स्वीकारे देवदत्तस्य दर्शनमित्यादौ ‘कर्तृकर्मणोः कृति’ इति कर्तृकर्मोभयरूपार्थे पष्ठथा विधानात्सन्देहोत्पत्त्या सम्बन्धप्रतीत्यभावप्रसङ्गः ।

यदि च नैयायिकाभिमतवैवित्रच्छारूपतात्पर्यज्ञानस्यैव कारणत्वमुच्यते तदपि मीमांसकमते अपौरुषेयवेदे शुक्लद्युच्चारितवाक्ये च वैवित्रच्छाया अभावात्, तादृशवाक्ये तात्पर्यज्ञानं न स्यात् । न च तत्राध्यापकेच्छाज्ञानेनैव तात्पर्यबोध इति वाच्यम् । अध्यापकानामव्युत्पन्नदशायामपि व्युत्पन्नच्छात्राणां बोधदर्शनात् । ततश्च मीमांसकाभिमत—‘तदन्वयप्रतीतीच्छयाऽनुच्चारितत्वे सति तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वरूपा तात्पर्याख्या चतुर्थी वृत्तिः सम्बन्धज्ञानायावश्यं कल्पनीयेत्याहुः । एवञ्च देवदत्तस्य दर्शनमित्यादौ न दोषः । तदेवापपादयति—आकाङ्क्षायोग्यत्वेत्यादिना । प्रतीत्यपर्यन्तानमाकाङ्क्षा । अर्थाबाधो योग्यता । पदानामव्यवधानेनोपस्थितिः सन्निधिः । सैवासत्तिर्नाम । इत्यादिसहकारिकारणताज्ञानेन वक्ष्यमाणजातिगुणत्रियामञ्जारूपाणामन्योन्यं सम्बन्धे ‘जनयित्तमे तात्पर्यार्थः तात्पर्यार्थवृत्तिः, तथा प्रतीतः विशेषवपुः वाच्याद्यपेक्षया त्रिलङ्गशरीरः घटमानयेत्यादौ घटपदेन समीपस्थाच्छिद्रत्वंविशिष्टघटप्रतीतिवत्कर्मणादिसम्बन्धरूपोऽपदार्थोऽपि वाक्याऽप्रतिपाद्यमानो वाक्यार्थः सम्बन्धः समुहसति बोधविषयो भवति ।

अम्बिताभिधानवादिनस्तु आवापोद्वापाम्यामेव घटादेर्बोधदर्शनात् कथाप्रसङ्गे उच्चारितानां घटादिपदानां वैदेशिरस्य बोधाजनकत्वात् पदार्थान्तरेणाम्बितानामेवाभिधानं बोधः । ततश्चान्वितो घटो घटपदस्य इति तेषां मतम् । तन्मते च विषयतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धिवाचच्छिद्रं प्रति विषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितिः कारणमिति नियमः । तदुक्तं ‘शाब्दी श्लाकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते’ इति । एवञ्च सम्बन्धज्ञानं वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यमेवास्ति । वृत्तिश्च शक्तिरङ्गावा । तयोश्च स्वरवार्थमुपस्थाप्य विरतत्वाद्विरतयोः पुनरुत्थानाभावात् । शाब्दबोधे सम्बन्धज्ञानस्य केनापि वक्तुमशक्यत्वात् प्रतीतेश्च दर्शनात् सम्बन्धविशिष्टेऽप्यपदानां शक्तिरिति वदन्ति । तदेवोक्तं ‘वाच्य एव वाक्यार्थः’ इति ।

प्र० ३—‘साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः’ इति वाचकशब्दलक्षणस्य निर्दोषता प्रतिपाद्यनाम् ।

उ० ३—अत्र ‘अभिधत्ते’ इत्यस्य अभिधया बोधयतीत्येवमेवार्थस्वीकारे वाचकशब्दवृत्तिव्यापारस्याभिधात्वेन स्वज्ञाने स्वज्ञानस्यापेक्षितत्वात् आत्माश्रयो दोषः स्यात् । अतः केवलं बोधयतीत्येवार्थो वाच्यः । अर्थं बोधयति स वाचकः

इत्येवोच्यमाने 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ तीररूपार्थबोधकत्वाद् गङ्गाशब्दस्य वाचकत्वं स्यात् । अतः सङ्केतितमिति । सङ्केतश्च ईश्वरेच्छा अनादितापर्यरूपो वा प्राह्य । प्रकृत गङ्गाशब्दे मतभेदेनोभयोरप्यभावाच्च दोषः । एवमपि पञ्चवट्यादिपदेषु पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवट्यतिः समासात् पञ्चाभिध्ववटसमुदायविशिष्टस्य देशसामान्यबोधादतिव्याप्तिः । अतः उक्तं साक्षादिति । उपरिधयन्तराध्यवधानेन नार्थः । एवञ्च देशविशेषस्यैव प्रतीतेः सत्त्वाच्चातिव्याप्तिः । साक्षादर्थबोधयतीत्यवसु-यते तदा ह्यबहुवचनं निदिश्य आनयेयाद्युच्चारिते द्विवचनव्याक-पदार्थानयनस्य बोधाच्चष्टायामतिव्याप्तिः स्यादतः सङ्केतितमिति, चेष्टास्यले आधुनिकानां सङ्गया परिभाषा न तु सङ्केतितमिति न दोषः ।

प्र० ४—इत्याद्यायनामियं पङ्क्तिस्तस्या आशयं बोधयितुम् । 'इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात्सङ्केतसहाय एव शब्दाऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यन्माध्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः' इति ।

उ० ४—सङ्केत एव शक्तिः सा च कुत्रचित् स्वरूपसती कारणम् । यथा बह्वी दाहानुकूला शक्तिः अज्ञाताऽपि बहुसम्बन्धमात्रेणावरणं दाहं जनयति । पदे अर्थबोधानुकूलशक्तिस्तु ज्ञाता सत्येव कारणम् । अतः एव वनौषधिवर्गस्थाने कपदानां सङ्कतप्रहाराभावे न बोधः । सा शक्तिर्यस्य शब्दस्याभ्यवहितोत्तरं यमर्थं बोधयति तस्मिन्मर्थे तस्य शब्दस्येति स शब्दस्तदर्थवाचकः । तदेवाह इहेति निर्दिष्टपङ्क्तिः ।

प्र० ५—आद्यायतां 'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' इति ।

उ० ५—सङ्केतविषयीभूतोऽर्थः कतिविधः इति विभागं दर्शयति—'सङ्केतितश्चतुर्भेदः इति । सङ्केतप्रहविषयोऽर्थश्चतुर्विधो भवति जात्यादिरिति । जातिगुणक्रियासङ्गारूपेणैवार्थः । अत्रेदं विचार्यते । किं व्यक्ती शक्तिरिति । जातिः । ननु प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्यतया अर्थक्रियाकारितया व्यक्तावेव शक्तिरिति । सामान्यस्यादिवाच्येन गोम्यक्तेरेवानयनादिदर्शनात् । जातश्चानयनासम्भवाद् अप्रयोजकत्वाच्च गोपदस्य सास्नादिविशिष्टगोम्यक्तावेव शक्तिरिति चेच्चिद्वदन्ति । परमेवमुच्यमाने गोम्यक्तेर्नानात्वात् प्रतिव्यक्तिशक्तिरूपेणैव शक्त्यापानन्त्यसङ्गः

एकस्मिन्नावि गोत्वज्ञाने जाते कालान्तरेऽन्यगोदर्शनेन गोरूपार्थस्योपरिधत्ते  
 साक्षात् साध्याभाववद्बृत्तित्वलक्षणे व्यभिचारश्च । यतो गृहीतसङ्केतायां व्यक्तौ  
 विनष्टाया व्यस्यन्तरेऽपि बोधदर्शनाच्चष्टव्यक्तिगततद्व्यक्ति-त्राभावश्चक्ष्यन्तर  
 बृत्तिवात् । किञ्च धर्मविशेषपुरस्कारेण शक्यप्रदे व्यक्तिमात्रबोधस्वीकारे 'गौ ,  
 शुद्ध , चल , दिव्य , इत्यादीनां व्यक्तिरूपेणैव बोधापर्यायतापत्तिरिति उपाधौ  
 प्रकाराभूते धर्मे गोत्वादिरूपेणैव । गोत्वे शक्ते स्वीकारे च सा वस्यैवयाज्ञानस्य  
 व्यभिचारी । स चोपाधिर्द्विविधः । वस्तुधर्मो घटत्वादि वस्तुपददृष्ट्यापक्षि-  
 वेशितो नामरूपो हित्यादिश्च । तत्र वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः । सिद्ध साध्यश्च  
 तत्र साध्य क्रियारूप अधिश्रयगादारभ्याध श्रयणान्त मध्ये विधायमानो दूर्वा  
 परिवर्तनकृत्कारादि । इत्थं साध्यस्तु पूर्वापरीभूतैकदेशोऽधिश्रयगाध श्रयणादि  
 क्रियारूपः । यदाहु — 'यावद्विद्वन्मिदं वा साध्यत्वेनाभिधीयते । आधितक्रम-  
 रूपत्वात् सा क्रियेयमभिधीयते' इति । सिद्धस्तु द्विप्रकारकः । यदार्थस्य प्राणप्रदो  
 विशेषाधानहेतुश्च । यदार्थस्य प्राणप्रदो माम् निरवच्छिन्नप्रतिज्ञेयतानिरूपितप्रकार-  
 ताश्रयः । धर्मान्तराणां यो धर्मितावच्छेदकः , यस्य च धर्मितावच्छेदकमयप्राप्ति  
 सैव जातिः । जननेन प्राप्यते या सा । यावद्विद्यतिसम्बन्धनी यर्थः । यथा नीलो  
 घट इत्यादौ घटे विद्यमाना घटस्वरूपाः । यद्यपि गोत्वसममालिङ्गमेव शुद्धादे  
 सम्बन्धितमस्तीति नत्रापि जातित्वमापतितम् । तथापि पाकाद्यत्तर शुद्धादि  
 सम्बन्ध कदाचिदपैति न तु गोत्वस्य सम्बन्ध इति प्राणप्रदस्य गोत्वादे । ननुक्त  
 वाक्यपदीये ( भर्तृहरिणा ) 'गौ स्वरूपेण न गौ नाप्यगौ गोत्वाभिसम्बन्धात्तु  
 गौरिति । अयमर्थः — गौर्व्यक्ति स्वरूपेण न गोत्वव्यवहारविषयः नाप्यगोत्व-  
 व्यवहारविषयः । गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गोत्वव्यवहारविषयः ।

विशेषाधानहेतुर्गुणः । गोत्वादिना लब्धसत्ताक वस्तु शुद्धादिनेतरेभ्यो  
 व्यापचर्यते । नीलादयो हि घटादिक सजातीयस्त्वादियेभ्यो व्यापचर्यन्ति ।  
 हित्यादिशब्दानामिति । ननु तत्र क्वचित् हित्य-वरूपो धर्मः पित्रा ऋषियपदेन  
 सङ्केतिते ऋषियपदेन व्यवहारसम्भवात् तत्र हित्यादिसंज्ञाशब्दानां स्वरूपम्  
 अन्यबुद्धिनिर्माद्यम् अन्यबुद्ध्या पूर्वपूर्ववर्णश्रावणप्रत्यक्षजन्यसंस्कारमहितचरम  
 वर्णश्रावणप्रत्यक्षे निश्चयेन बुद्धिसंवेद्यमिति ज्ञेयायिका । 'पदे न च' विद्यन्ते  
 वर्णेष्ववयवा न च' इत्युक्त्या अक्षरपदस्फोटस्य स्वीकारात् सहतक्रममिति धैया-



करणाः । अक्रमस्फोटारूपं शब्दस्वरूपं च तत्रा यदृच्छया दित्याद्यर्थे पूषाधित्वेन कल्प्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति । अत्र प्रमाणमाह—‘गौः शुक्लं श्रलो दित्य इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः इति । शब्दानामर्थे या प्रवृत्तिः सेत्थ प्रकारचतुष्टयवती । नन्वेवं सति परमाण्वादीनां जातित्वं स्याच्च गुण-  
त्वम् । तादृशपरिमाणस्य यावत्स्थितिसम्बन्धित्वाद् इति चेत्सत्यम् । जातिशब्दा एवेते । वैशेषिकमतानुसारेण तु तत्र गुणत्वव्यपदेशः ।

जात्यादिरिति पञ्चमित्थं व्याख्यायेदानीं जातिरेव वेति पक्षं निरूपयति । ननु पदादिनिष्ठानां शुक्लादिगुणानां शुद्धतण्डुलादिनिष्ठानां पाकादिक्रियाणाञ्च भेदस्य प्रत्यक्षतः सिद्धौ मानात्वं स्यादिति चेन्न । वस्तुतस्तेषामेकरूपत्वाद् । भेदप्रतीतिस्त्वाध्वयौपाधिकीति । गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामाश्रयभेदाद्भेदप्रतीतिः वस्तुत एकरूपत्वमेव । यथा एकस्यैव मुखस्य रुद्धो तारस्यादिविशिष्टा, मुहुरै स्वच्छा, तैले मलिना प्रतीतिः, न तु तत्र मुखानां वस्तुतो भेदः । एवं हिमगतशै-  
वस्य चाकचक्यादिविशिष्टं, दुग्धगतं स्वच्छं, सङ्कगतं मलिनमिति भेदेऽपि अभि-  
ज्ञाभिधानप्रत्ययोपसिर्धेन शुक्लादिना तत्सामान्यं नाम जातिः । तत्रैव लाघवा-  
स्तङ्केतोऽङ्गीकर्तव्यः । क्रियायामपि शुद्धतण्डुलसूपपाकादीनां वस्तुतो भेदेऽपि येन पाकवादिनाऽभेदः प्रतीयते तदपि जातावेवान्तर्भूतम् । संज्ञाशब्दस्थले बाल-  
तृणवृद्धशुकोदीरितानां दित्यादिशब्दानां भेदः । शरीराणामवयवोपचयापचय-  
सज्ञावाद् व्यक्तिभेद एव वा, एवं सत्यपि येन दित्यत्वादिनाऽभेदप्रतीतिः, तदपि सामान्यमेवेति जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्याहुः । नैयायिकादयस्तु—न व्यक्ति-  
मात्रे शक्तिः नापि जातिमात्रे, भावे आनम्याद्यभिचाराच्च, अन्ये व्यक्तिप्रतीत्य-  
भावप्रसङ्गात् । तस्माज्जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिः । ततश्च शक्त्यत्वावच्छेदकं  
शोत्वादिकं जातिरिति नानन्यमिति वदन्ति । तद्वानिति व्यक्तीनामानम्या-  
जातेश्चानयनाद्यसम्भवाज्जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिरिति । बौद्धास्तु—(सौगताः)  
‘यसत्तत्त्वज्ञिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा जमी तस्मात्ते शगिकाः’ इति  
सिद्धान्तरीत्या भावमात्रस्य चणिकत्वाज्जातिव्यक्तयोरपि तथात्वान्नित्यत्वाभावाद्  
आनम्याच्च जातौ व्यक्ती वा सङ्केतस्य वक्तुमशक्यतया तद्भेदाभावे तदनुगताया-  
मतव्यावृत्तौ लाघवात्सङ्केत इति वदन्ति । तत्र किमयुक्तं किं युक्तमित्यादि रस-  
न प्रदर्श्यते ।

ननु इत्थिमानयंत्युक्ते सङ्केतसम्बन्धेन इत्थिपदवन्तमानयेति बोधदर्शनात्  
तत्र इत्थिपदस्य प्रकारीभूतत्वात् तस्य जातिस्वाभावेन कथं जातावन्तर्भावः  
इत्यस्वेत्याह—

प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु इत्थिवाच्येषु वेति । वस्तुतस्तु यत्र साक्षाज्जातेः प्रकार-  
त्वाभावरतत्र परम्परया जातिः प्रकारतया स्वीक्रियते यथा दण्डीत्यादौ प्रकारी-  
भूतस्य दण्डस्य जातिस्वाभावेन महामाप्योक्तरीत्या जातिगुणक्रियासंज्ञारूपचतु-  
र्विधशब्दे एवास्तर्भावस्वावरयं वक्तव्यतया गुणे क्रियायां संज्ञायां वा सर्वथाऽन्त-  
र्भावसम्भवाद्दण्डे प्रकारीभूतस्य दण्डत्वस्य जातिस्वभावात् परम्परया दण्डिशब्द-  
स्यापि जातिवाचकत्वाज्जातिशब्देऽन्तर्भावो भवति तथैवात्रापि 'इत्थि' पदस्य  
जातिस्वाभावेऽपि इत्थिपदे प्रकारीभूतस्य इत्थिपदत्वस्य जातित्वेन परम्परया  
इत्थिपदस्यापि जातिवाचकत्वान्तर्भावो भविष्यत्येवेति न दोषः ।

प्र० ६—सोपपत्तिकं व्याख्यायनामियं कारिका—

मुख्यार्थवाधे तद्योगे रुढिनोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यस्सा लक्षणाऽरोपिता क्रिया ॥

उ० ६—मुख्यार्थवाधे इति । मुख्यमिव मुख्यः शाखादित्वाद्यत् । प्राथमिक-  
प्रतीतिविषयो वाच्यार्थ इत्यर्थः । तस्य वाधेऽमुपपत्तिग्रहे । तद्योगे इति—तस्य  
लक्षणीयार्थेन सह योगे सम्बन्धे, रुढित् प्रयोजनाद्वाऽन्योऽर्थो यदा कृत्वा लक्ष्यते  
सा लक्षणा नाम । 'अथ' शब्दस्यार्थं नथवा वेति । 'लक्ष्यते—यस्सा' इत्यनेन  
'यदा कृत्वा लक्ष्यते सा' इति बोध्यम् । इति कारिकाया अन्वयः ।

अथ विशेषप्रदर्शनम् । मुख्यार्थवाधे इति । अत्र मुख्योऽर्थो न व्युत्पत्ति-  
लभ्यः । अन्यथा गोशब्देन 'गच्छतीति गौः' इति व्युत्पत्त्या गमनक्रियाकारित्व-  
रूपार्थं प्रतीतेः गोस्यक्तवर्धसिद्धये लक्षणाऽऽश्रयणीया स्यात् । लोके तु व्युत्पत्ति-  
लभ्योऽर्थो नैव प्रतीयते । अपि तु गोशब्दश्चावगमप्रत्यक्षाव्यवहितोत्तरकाले गोरूपार्थ-  
स्य बोधो भवति इति तत्र गोशब्दस्य वाचकत्वमेव । तस्य वाधे वाच्यार्थस्य  
वाधे सतीति यावत् ।

तद्योगे । तेन मुख्यार्थेन योगे सम्बन्धे । सर्वथाऽसम्बन्धार्थप्रतीती तत्र शब्दे  
उपस्थितिशब्दबोधानुबुद्धव्यापारद्वयकल्पनेन गौरवं स्यात् । सम्बन्धे च सति

तज्ज्ञानाधीनलक्ष्यार्थस्योपस्थितौ तत्र शाब्दबोधानुबृल्लक्ष्यापारमात्रपरिग्रहेनो  
पस्थित्यनुबृल्लक्ष्यापारकक्षनाराहित्यप्रयुक्तं लाघवम् । तत्र लक्षणायां कैश्चिद्  
अन्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिश्च कारणमित्युक्तम् तच्च । तात्पर्यानुपपत्त्यैव कार्यं  
निर्वाहे उभयत्र कारणावकल्पने गौरवात् । तथाहि—‘कारेभ्यो हृदि रक्ष्यताम्’  
इत्यादाविव ‘यष्टी प्रवेशाय’ इत्यत्रापि तात्पर्यानुपपत्तिरस्येव । न हि यष्टी बहिः  
संस्थाप्य प्रविविक्तसु यष्टी प्रवेशयेति प्रयोग मियते । आवृतदेशावच्छिद्यसयोग  
प्रवेशपदार्थं ॥ च यष्टिधारिणामिव यष्टीनामप्यस्तीति तात्पर्यानुपपत्तिरस्येवेति  
तस्या एकोपादानलक्षणाधीनता । रुडित इति—‘कर्मणि कुशल’ इत्यादौ कुशल  
प्रादिरूपसुरथार्थप्रदमन्तरैव समुदायशक्त्या विद्यच्छकायादिरूपोऽर्थं प्रतीयते ।  
शान्तपुरपदवादिबोधवयवशक्तिप्रहोत्तरमेव समुदायशक्तिप्रहो भवति तयापि न  
तत्रैवावयवार्थोऽत्र समुदायार्थघटक रथन्तरादिपदेषु रथस्यदजन्यतत्त्वपदार्थो  
पस्थितिपूर्वक एव समुदायशक्त्या सामविशेषरूपोऽर्थो बोध्यते । परन्तु न तत्र  
रथादीनां समुदायार्थेन वक्षित् सम्बन्धः । अथ तु कुशलप्रादिरूपार्थेन साधधानत्वा  
द्विसम्बन्धो विवेचकरवादेरस्तीति वदति । पूर्वत्र तु न रुडिरिति भेदः । ‘कर्मणि  
कुशल’ इत्यादौ कुशलादिपदे कुशलकर्मकादानवर्तुर्द्वयार्थं विवेचकाद्यादिना सम्ब  
न्धमन्नावात् तदर्थस्य लक्षणाया प्रतीतिः । अथ च ‘निरुद्धा लक्षणा काश्चित्ता  
मध्यादभिधानवत्’ इत्युक्तदिक्षा प्राधान्यतो लक्ष्यार्थस्य बाधः । यत्तु ‘कलिङ्ग  
साहसिक’ इत्यत्र कलिङ्गदेशस्य तद्देशवासिनि लक्षणेऽनुक्तम् तत्र । ‘जनपद-  
शाब्दाश्चित्रियादञ्’ इति सूत्रे जनपदचित्रियवाचकयोरिदुब वा कलिङ्गादिदेशानां  
देते देतवामिनि च वाच्यत्वर्यैव स्वीकारात् । अनादितात्पर्यवती निरुद्धा लक्षणा ।  
तदुदाहरणं ‘कर्मणि कुशल’ इति । ततश्च तत्र मुख्यार्थप्रतीतिप्ययदित्यादि  
रुडित्वम् तेन च सम्बन्धास्तल्लक्षणात्वम् ।

अथ प्रयोजनात्—अथवा ‘शङ्कायां बोधः’ इत्यत्र ॥ प्रवाहे धोपापारत्यमनु  
पपन्नम् । प्रवाहस्य तीरे सामीप्यादिसम्बन्धः । दौत्यपावनत्वाद्यतिशयप्रतीति-  
प्रयोजनमितीय प्रयोजनयती लक्षणा । त च व्यापारो यद्यपि अर्थनिष्ठस्तथापि ॥  
शब्दे आरोप्यते इति साऽऽरोपिता त्रियेत्याहुः ।

प्र० ७—व्याख्यायन्तामिमाम्भित्त्य कारिका ग्रन्थदुत्ततरण्या  
सादेयसम्पन्नार्थं यत्र तत्परेत्यद्वयवत्ता प्रतीयते ।

- ( १ ) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।  
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥
- ( २ ) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी त्रिपयस्तथा ।  
विषय्यन्त कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यः सानिका ॥
- ( ३ ) भेदाधिमौ च सादृश्यात्सम्यग्व्यान्तरतस्तथा ।  
गोणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा ॥

उ० ७—यदा प्रयोजनवस्था लक्षणाया प्रवाहरूपार्थेन तीरविषयकोपस्थितिर्न भवति तदा कथं गङ्गापदनिष्ठलक्षणाज्ञानाधीनतीरविषयकोपस्थितिरिति चेदत्र शून्यम् । 'शब्ददी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इति सिद्धान्तात् शब्द विनाश्व्यं बोधनासम्भवात् गङ्गाशब्दे उपस्थापकता आरोप्यत इति । साऽत्र लक्षणा द्विविधा । यत्र शक्यार्थस्यान्वयसिद्धये परार्थस्योपस्थापनं सा उपादानलक्षणा । यत्र परार्थां न्वयबोधार्थं शक्यार्थस्य त्यागः सा लक्षितलक्षणा चेति । 'कुन्ता प्रविशन्ति' इत्यादौ ( आकृतदेशावच्छिन्नसबोगानुभूतो व्यापारः प्रवक्ष्यपदार्थः ) प्रवेशः कुन्तधारिपुरुषाणामिष कुन्तानामप्यस्ति । न खलु कुन्तधारिपुरुषा कुन्तान् बहिः संस्थाप्य प्रविशन्तीति कुन्तानुपादाय कुन्तधारिपुरुषा लक्षयन्ते इत्यपोपादानलक्षणा । अत्र हि नैयायिका—अस्यादिपदानामारुण्ये शक्ति आरुण्य विशिष्टे लक्षणेत्याहुः । हेतुश्चात्र यदस्ति । 'शक्यघटिते शक्तिर्न स्वीक्रियते' इति कथमिति चेत्, शक्तिर्नामेश्वरेच्छा सा चानुमेया । घटपदे चारणेन घटरूपार्थस्योपस्थित्या घटरूपार्थं ईश्वरेच्छा कल्पयितुं शक्या । आरुण्यविशिष्टे तु 'गुण-गुणिनो समवायः' इति समवायसम्बन्धज्ञानाधीनोपस्थितिर्भविष्यत्येति 'अनस्य लभ्यो हि शब्दार्थः' इत्युक्त्वा तत्र लक्षणैव शक्तिरिति यदस्ति । तथैव जाति शक्तिवादिनो मीमांसकाः—गोत्वे शक्तिः गोत्वविशिष्टव्यक्तौ 'विशेष्य नाभिध्या गच्छेत्स्वीणशक्तिर्विशेषणे' इत्युक्त्या शक्तेर्वक्तुमशक्यत्वेन जातिव्यक्त्यो समवाय-सम्बन्धस्य कलसराच्छक्यसम्बन्धरूपा लक्षणेऽप्याहुः । परन्तु लक्षणायां कारणस्य प्रयोजनस्य ईश्वरेच्छाया अनादितात्पर्यरूपरूढेर्वा अभावेन तत्र लक्षणाया अनवस-राद् । व्यक्ते प्रतीतिस्तु व्यक्तिं विना जातेरनुपपन्नत्वेन 'यत्नं विना यदनुपपन्नं तत्तेनाच्छिप्यते' इति आक्षेपादेव तदेवानुमानम् । व्याप्येन गोत्वेन व्यापकस्य गोत्वविशिष्टस्य व्यक्तेरनुमानम् । 'कुन्ता प्रविशन्ती' त्यादौ कुन्ता कुन्तधारि-

पुरुषस्याप्या न भवन्तीति नानुमानावसरः । अनुपपन्नस्यास्येष्टे दृष्टान्ताग्रदक्षेति ।  
क्रियतामिष्यति । आख्यातार्थं कर्म कृद्यावर्षं कृतिः, तस्याप्र साधयत्वेन  
कर्तुरास्येष्टः । कुर्विष्यत् कृते सविषयत्वेन कर्मण आस्येष्टेष्टं प्रवित्त विगर्भमित्य-  
दावपि ज्ञेयम् ।

यत्तु 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादी दिवाभोजनरूपमुपधार्यमाशय  
लक्ष्य रात्रिभाजनं प्रतीयत इत्युपादानलक्षणेत्याहुः । तच्च । तथाविधप्रत्यय  
स्थले पदाभागास्तत्तया वक्तुमशक्यतया दृष्टार्थापात्रं धृतस्थलेऽप्युपाधार्यैव  
कार्यनिराहे लक्षणाया व्यर्थत्वात् । 'गङ्गाया घोष' इत्यादी तीरस्थ घोषाधार्य  
सिद्धये शास्त्रार्थस्य प्रवादस्य सर्वथा त्याग इत्यथा लक्षणात्तु । एषा घोष  
लक्षणाहेतुत्वात् लक्षणलक्षणेयुष्यते । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'उपलक्षणहेतुत्वा  
देवा लक्षणलक्षणे नि । उपलक्षणत्वं च—अविद्यमानं सङ्ग्राहकं कर्म । तदुदाहरणम्  
'काष्ठवन्तो देवदत्तस्य गृहा' इति । तत्र तदानीं दृष्टस्य काष्ठस्येदानीमविद्यमान-  
त्वेऽपि देवदत्तस्य गृहस्थेतरगृहादेशया व्यावृत्तिः । एव 'गङ्गाया घोष' इत्यत्र  
गङ्गादायेन तीररूपार्थे लक्षितेऽपि गङ्गानीरस्यैव प्रतीतिः, यमुनादिनीराणां व्या-  
वृत्तिरिति लक्षणलक्षणेति । अत्रोदाहरणद्वयस्यैव शुद्धेष्ट लक्षणा । तदुक्तं—'भेदाधिमी  
चे'ति । सादृश्यसम्बन्धलक्षणा गौरी तद्विपर्यय-चमूला शुद्धेष्टार्थः । 'गङ्गायां  
घोष' इत्यत्र प्रवाहनीरयो परापरस्य वृत्तचमप्रकारकयोपरिस्थ तात्पर्यम्  
भीदासीन्यं नारतीति शक्यतावच्छेदकप्रकारकत्वपरिनिष्पन्नं प्रवाहादेन तीरस्थ  
योध, न ॥ प्रवाहादेन प्रवाहस्य तीरत्वेन तीरस्थेति । ननु तीरे प्रवाहात्  
बाधितमिति कथं प्रवाहादेन तीरस्थोपस्थितिरिति चेन्न । यमराजमन्त्र-धेन तीरे  
प्रवाहस्य बाधितत्वेऽपि स्वप्रकारकारोपरिनिष्पन्नमन्त्रधेन बाधमात्रम् ।

तीरादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तावेन प्रवाहादेन तीरस्थोपस्थितौ सौम्य  
पायतावादेर्लभः । गङ्गागते घोष—इत्याद्युक्त्यमानेऽभिधेयैव तीरादरात्रिस्थितिरिति  
प्रयोजनस्य सौम्यपायतावादेनं प्रतीतिरिच्छेत् लक्षणाया भेदः ।

एव गृहालक्षणाया भेदद्वयमुक्त्वा गौरीलक्षणाभेदानाह—'नरोद' इत्यति ।  
यत्रोपस्थिततावच्छेदकप्रकारिका आरोप्यमानतावच्छेदकप्रकारिका च भेदेनोप-  
स्थितिरत्र सारोपा लक्षणा । आरोप्यमाणनारायणविषय निर्वा मिति साध्यमाना  
लक्षणा । 'गौरीलक्ष' इति सारोपाया उदाहरणम् । अत्रोदये । गौरीलक्ष

इत्यत्र गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभाववान् बाहीक इति बोधः, बाहीक-  
त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभाववान् बाहीक इति बोधो वा । आद्येऽसम्भवः ।  
बाहीके गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्यैव सत्त्वात् । अन्ये घटो घट  
इतिवदभेदान्वयानुपपत्तिः । प्रकारतावच्छेदकविशेष्यतावच्छेदकयोर्भेद एवाभेदा-  
न्वयस्य नियमात् । केचित्तु लक्षणाया जाड्यमान्यादिवमाश्रित्य जडो बाहीक  
इति बोधमाहुः । तत्रोच्यते । किं गता जाड्यमान्यादयो गुणा लक्ष्यमाणा  
प्रतीयन्ते ? गोगता बाहीकगता वा । गोगताश्चेत् सर्वथा बाध गोगतगुणस्या-  
न्यत्राविद्यमानत्वात् । बाहीकगताश्चेत् सामान्याधिकरण्यं न सन्नच्छेत् । शक्येन  
साकं सम्बन्धाभावश्च नहि गुणाभिन्नत्वं बाहीकस्यास्ति तयोर्गुणगुणिनो समवाय-  
सम्बन्धस्य नियतत्वात् । यदि च गोगतजाड्यवृत्तिजाड्यत्वत्रजाड्यपर्यन्तं लक्ष-  
णाऽङ्गीक्रियते तदापि स्वेवानुपपत्तिः अत्र सञ्जातीयगुणाभ्यस्त्वेन बाहीकार्थं एव  
लक्ष्यते इत्येव साधुः । तथा च गोगतजाड्यवृत्तिजाट्यत्ववद्बाहीकगतजाड्यवृत्ति  
लक्षणा । ततश्च तयोरभेदान्वये स्वप्रकारकारोपविशेष्यत्वसम्बन्धेन गोत्वावच्छिन्नो  
बाहीक इति बोधः । जाड्यमान्यादिप्रतीतिश्च लक्षणाया प्रयोजनम् । उक्तञ्च  
महैर्वात्तिके—‘भामान्तरविरोधे तु मुर्यार्थस्य परिग्रहे । अभिधेयाधिनाभूतप्रती-  
तिर्लक्षणेऽप्युच्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्गौगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता’ । ‘गङ्गाया घोषः’  
इत्यादौ मुर्यार्थस्य प्रवाहस्य स्वीकारे प्रवाहे घोषाधारत्वासम्भवात् प्रत्यक्षादि-  
प्रमाणागन्तरेण विरोधे सति अभिधेयेन प्रवाहरूपार्थेनाविनाभूतं सम्बद्धं यत्  
सदादि तत्प्रतीतिकरणीभूतो व्यापारो लक्षणेऽप्युच्यते । गौर्बाहीक इत्यत्र लक्ष्यमा-  
णस्य बाहीकस्य गुणैर्जाड्यमान्यादिभिर्योगाच्छब्दसम्बन्धाद् वृत्तेर्गौणता इष्टा  
गौणी लक्षणा भवतीत्यर्थः । अविनाभावश्चात्र सम्बन्धमात्रं न ॥ व्याप्तिः । तथा  
सति मञ्चा क्रोशन्तीत्यादौ मञ्चस्थपुरुषाणां मञ्चेन साकं व्याप्यव्यापकभावस्या-  
सत्त्वात् लक्षणा न स्यात् । ननु क्रोशनस्य क्रियायाश्चेतनकर्तृत्वं न क्रोशनकाले  
मञ्चस्थपुरुषाणां मञ्चेन साकं व्याप्यव्यापकभावोऽस्त्येवेति चेद् अनुमानेनैव  
प्रतीतिसिद्धौ लक्षणाया व्यर्थं व स्यात् । आयुर्धृतम् इत्यत्र आयुष्कारण घृतमिति  
कार्यकारणसम्बन्धसद्भावेन शुद्धा लक्षणा । चतुर्धृतोदाहरणेषु रूढ्यभावात् प्रयो-  
जनमाह अत्रेति । गोर्बाहीक इति आरोप्यमाणारोपविषययोरेखादानात् सारो-  
पात्यले ताद्रूप्यप्रतीति प्रयोजनम् । गौरयमि-यारोप्यमाणेनारोपविषये निगीर्ण-स्व-  
रूपे साध्यवसानोदाहरणे अभेदप्रतीतिश्च प्रयोजनम् । एवमायुर्धृतमित्यत्रोभयोपा-

दानात् सारोपोदाहरणे दुग्धाद्यपेक्षया वैसादरयेन प्रतीतिः । आयुर्वेदमिति साध्यवसानोदाहरणे नियमेनायुर्जनकत्वप्रतीतिः प्रयोजनम् । सम्बन्धान्तरे शुद्धलक्षणेत्युक्ते तत्र सम्बन्धान्तराण्याह—कचित्तादर्थ्यादुपचार इत्यादि । तथा च उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना, शुद्धा, गौणीत्युक्तमेदेन षड्विधा लक्षणा । इति ।

प्र० ८—‘गौरनुबन्ध्यः’ इत्यादिकं जातिशक्तिवादिनो मीमांसका उपादानलक्षणामुदाहरन्ति । काव्यप्रकाशे तन्निरासः कृतः । तथा च ‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते’ इत्यत्रापि तैरुपादानलक्षणैव स्वीकृता । तदेतदुभयं प्रकाशकारोक्तरीत्या सोपपत्तिकं निराकरणीयम् ।

उ० ८—मण्डनमिश्राः ‘गौरनुबन्ध्यः’ इत्यादिकमुपादानलक्षणाया उदाहरणमाहुः । अनुबन्ध्यः आलम्ब्यः हन्तव्य इत्यर्थः । गौरनुबन्ध्योऽजोमियोमोयः’ इत्यादिदुतामिदं वचनम् । मीमांसकानां मते जातौ शक्तिः । गौरनुबन्ध्य इत्यत्र गोत्वस्य जातेः श्रुतिविहितानुबन्धनक्रिया कथं सम्भवेदिति जातेरनुबन्ध्यामर्हत्वात् शक्तेश्च ‘विशेष्यं नामिधा गच्छेत् लीनशक्तिर्विशेषणे’ इति न्यायेन गोत्वबोधनेन विरतत्वात्, व्यक्तिं विना जातेरनुपपन्नत्वाच्च जात्या व्यक्तिलक्ष्यते । ततश्च गोत्वरूपमुख्यार्थमादायैव गोत्वव्यक्तिलक्ष्यते इत्युपादानलक्षणेयम् इति वदन्ति । तदेतदपेक्षलम् । लक्षणाकारणस्य रूढेः प्रयोजनस्यात्राभावात् । न ह्यत्र प्रयोजनं किञ्चिदस्ति । रुदिरां काचित् । येन लक्षणाया अवसरः । ननु तर्हि भवन्मतेऽपि व्यक्तेः प्रतीतिः कथमिति चेदाक्षेपादेवेति वदामः । आक्षेपोऽत्रानुमानम् न ॥ लक्षणा । व्यक्तिं विना जातेरनुपपन्नत्वादित्यविनाभावेन व्याप्तिर्बहिता । कृत्तिप्रयोज्योपरिधितिः शब्दादौ कारणम् । यथा च व्यक्तेरीदशाक्षेपेण प्रतीतिस्तदुदाहरणद्वारा स्फुटीकरोति । यथा ‘क्रियताम्’ इत्यत्र कर्ता ( कृतिः साध्या गुणत्वादित्यनुमानेन कर्तुर्लभः ), कुर्वित्यत्र कर्म ( कृतिः सविषया कृतित्वादित्यनुमानेन कर्मलभः ) अथवा तत्राद्यस्थले कर्मणः, द्वितीये कर्तुः लकारेणाभिधानात् कर्तृकर्मणोरेवाक्षेपात्प्रतीतिरिति । उक्तरीत्या गुरोर्मते अर्थाक्षेपे दृष्टान्तमुक्त्वा भट्टमते शब्दाक्षेपे दृष्टान्तमाह—‘प्रविश’ इत्यत्र ‘गृहम्’ इति कर्मपदं, ‘पिण्डीम्’ इत्यत्र ‘भक्ष्य’ इति क्रियापदम् यथाऽऽचिष्यते तथैव जात्या व्यक्ति-

अपरे तु 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुक्ते' इत्यादौ रात्रिभोजन लक्ष्यते तत्र भोज-  
नाभावसमानाधिकरणपीनत्वयुक्तोत्कर्षस्य प्रतीते प्रयोजनस्य सत्त्वात्, तत्र दिवा-  
भोजनरूपमुपशान्त्यमादायैव लक्ष्य रात्रिभोजन प्रतीयते इत्युपादानलक्षणेत्याहुः ।  
तत्र । 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुक्ते' इति प्रत्यक्षस्येऽपि दिवाभोजनाभाववत्  
पीनत्व रात्रिभोजन विनाऽनुपपन्नमित्यनुपपत्त्या रात्रिभोजनप्रतीते । तथा चान्न  
पक्वाभावाच्च गाया यस्तु भक्षयतया दृष्टार्थापत्येन श्रुतस्थले अर्थापत्यैव कार्यनिवहि  
लक्षणाया व्यर्थत्वात् । यत्रानुपपद्यमान शब्द सन्ध्यान्तर कल्पयति सा श्रुतार्था  
पत्तिः । यथा 'द्वारमि ति शब्द 'पिथहि' 'इति क्रियापदम् । यत्र च दृष्ट श्रुतो  
वाऽर्थोऽनुपपन्नोऽर्थान्तर कल्पयति सा अर्थापत्तिरिति, स्येऽत्र मतभेदेनोभयमपि  
सम्भवति ।

प्र० ९—'अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं तादस्थ्यम् ।  
तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषित  
प्रयोजनसम्प्रत्ययः । गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतो तु 'गङ्गातटे घोष' इति  
मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणाया का भेदः' । इतीयं पङ्क्तिः प्रकाशप्रत्याशयं  
विशदीकुर्वता भवता समीचीनतया व्याख्येया ।

उ० ९—'गङ्गायां घोष' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये  
गङ्गाशब्द स्वार्थ प्रवाहरूप सर्वथाऽर्पयतीति सैषा लक्षितलक्षणा । तन्मूलञ्च  
सैष्यपावनत्वाद्यतिशयप्रतीति प्रयोजनम् । इत्थमुभयरूपा उपादानलक्षणा लक्षण-  
लक्षणा चेति शुद्धैव । तत्र सादृश्यसम्बन्धमूला लक्षणा गौणी, तादतरसम्बन्ध-  
मूला शुद्धा । 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र प्रवाहतीरयो परस्परव्यावृत्तधर्मप्रकारक  
बोधविषयतादस्थ्यमौदासीन्यमिति मुकुलमहा । ते तु 'गौर्वाहीक' इत्यादि  
गौण्या लक्षणाया शक्यार्थलक्ष्यार्थयो सादृश्यास्यसम्बन्धेनाभेदप्रतीतिरस्ति । शुद्धा-  
यां वाप्यार्थलक्ष्यार्थयोर्भेद प्रतीयते तदेवौदासीन्यापरपर्याय भेदप्रतीतिरूपं  
तादस्थ्य शुद्धाया गौणीतो भेदकम् । न तूपचारमिश्रणमित्याहुः । तदेव निराकर्तुमा  
हानयोर्लक्ष्यस्य तटस्य लक्षकस्य प्रवाहस्य न परस्परव्यावृत्तधर्मरूप तादस्थ्यमिति  
'गङ्गायां घोष' इत्यत्र प्रवाहत्वेन तीरस्योपस्थितिर्भवति । न प्रवाहत्वेन प्रवाहस्य  
तीरत्वेन तीरस्योपस्थितिः । तथा सति विशकलितयोस्त्वयोर्भेदरूपं तादस्थ्य स्यात् ।  
अतः शक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यविशेष्यक एव बोधो भवति । ननु तीरे



प्रवाहत्वं बाधितं तत्कथमुच्यते प्रवाहत्वेन तीरस्योपस्थितिरिति चेन्न । समवायसम्बन्धेन तीरे प्रवाहस्य बाधितत्वंऽपि स्वप्रकारकारोपविरोध्यावसम्बन्धेन तत्स्थितौ बाधाभावात् । तीरादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वेन प्रवाहत्वेन प्रतिपत्तौ तीरस्योपस्थितौ शैत्यपावनत्वादेर्लभः प्रतिनिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रययः । गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ गङ्गातटे घोष इत्याद्युच्यमानेऽभिधीयैव तीरादौरुपस्थितिर्गिति प्रयोजनस्य शैत्यपावनत्वादेर्न प्रतीतिरिति लक्षणाया भेदः ।

प्र० १०—प्रिशदं व्याख्यायन्तां निम्नोद्दिष्टिपिपङ्क्तयः । 'अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्छादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थमिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित् । स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते न तु परार्थोऽभिधीयते इत्यन्ये । साधारणगुणाध्वान्त्वेन परार्थ एव लक्ष्यते इत्यपरः' । इति ।

उ० १०—'अत्र'—शब्देन 'गोवाहीक' इत्यत्रेति बोध्यम् । स्वार्थं यादि । अत्र मुख्यार्थस्य गोवस्य वाहीके बाधितत्वात् तत्सहचारिणो गुणा जाड्यमान्छादयो लक्ष्यमाणा वाहीकार्याभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तीभवन्ति । शक्यतावच्छेदकाव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ततश्च गङ्गे वाहीक इति केचिदाहुस्तदसम्यक् । तथा हि गोशब्देन तावत् किं गता गुणा लक्ष्यन्ते? गोगता वाहीकगता वा? गोगतत्वे हि बाधः प्रसज्येत । न हि गोगता गुणा वाहीक सम्भवति । अथ वाहीकगता स्तरसामान्याधिरूप्य न सङ्गच्छेत । नहि गुणाभिधत्तव वाहीकरास्ति तयोर्गुणगुणिनो समवायस्य बलसत्त्वात् । अत्रदं पृच्छयते—गोशब्दाद्वाहीकार्यं प्रतीयते न वा । प्रतीयते चेद्वाहीको वाहीक इति घटो घट इतिवदभेदान्वयानुपपत्तिः । उद्देश्यविधेययोर्भेद एवाभेदावयस्य नियमात् । अथ न प्रतीयते इति द्रष्टव्यम् । तदा पृच्छाम । किं तर्हि गोशब्देन प्रतीयते? स्वगतगुणा न सम्भवन्ति सामान्याधिकरणानुपपत्तेः । अथ यदा स्वगतजाड्यवृत्तिपक्ष्यावयवजाड्यपर्यन्तं लक्षणा क्रियते तदा सैवानुपपत्तिः तदपि न सम्यक् । इदं पुनरत्र सत्यम् । गोशब्देन साधारणलक्ष्यतावच्छेदकं जाड्यमान्छादिकमाध्वान्यं वाहीको लक्ष्यते । साधारण्यं गोवाहीकोभयगतपक्ष्यावयवजाड्यपरवषावनः । गोशब्दस्य गोगतजाड्यवृत्तिजाड्यावयववाहीकगतजाड्यावयवति लक्षणा । ततश्च तयोर्भेदान्वयनं गङ्गे वाहीक इति घोषः । तदेवाह—साधारणगुणाध्वान्त्वेन परार्थ एव प्रतीयते इत्यन्ये । तदुक्तमन्यत्र—

‘अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्ष्णोच्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता’ इति । लक्ष्यमाणा जाड्यमान्धादयो गुणास्तैर्योगे शक्यसम्बन्धे सति गौणी लक्षणेति तदर्थः । अत्र चाविनाभावः सम्बन्धमात्रम् । न तु व्याप्तिः । ‘गङ्गाया घोष’ इत्यादौ प्रवाहतीरयोर्व्याप्तिप्रदेऽपि ‘मञ्जा कोशन्ती’त्यादौ तदभावात् न खलु मञ्जाना तस्थपुरूपैर्नाविनाभावः । किञ्च तयोरविनाभावे ह्याक्षेपेणैव तत्प्रतीतेर्न तत्र लक्षणोपयोगः ।

प्र० ११—‘तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः’ इति कारिकांशेन लक्षणा मूलव्यञ्जनाव्यापारं प्रस्तुत्य ग्रन्थकृता यदुक्तं ‘विशेषा स्युन्तु सक्षिते’ तदादौ ये विशेषा पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यमत्र श्यमेयितव्यम् । इत्येतद् ग्रन्थकृत्प्रतिपादनं तदुक्तसरण्ययं शङ्कासमाधा नपूर्वकं सम्यग्विचिन्त्यताम् ।

उ० ११—तत्र लाक्षणिके शब्दे प्रयोजनप्रतीतिसमर्थो व्यञ्जनात्मको व्यापारः । ननु लक्षणैव प्रतीतिर्भविष्यति किमिति व्यञ्जना स्वीक्रियत इयत आह— यस्य प्रतीतिमिति । यस्य शैत्यपावनत्वादेः प्रतीतिमाधातु जनयितुं लक्षणा स्वीक्रियते ‘गङ्गाया घोष’ इत्यवरूपो लाक्षणिकः प्रयोगः क्रियत तत्र लाक्षणिक-शब्दैकगम्य गङ्गाशब्दाम्बयत्यतिरेकानुविधाधित्वादिति भावः । शैत्यपावनत्वादि रूपे फले व्यञ्जनादपरा क्रिया व्यापारो नत्यर्थः । तथाहि नाभिधाव्यापारो वक्तुं शक्यः, समयाभावात् । समयः सङ्केतः । ‘गङ्गाया घोष’ इत्यादौ गङ्गादिपदानां शैत्यपावनत्वादौ सङ्केताभावात् सङ्केतितार्थे पृथग्भिधायाः प्रसरात् । नापि लक्षणाव्यापारः । लक्षणाहेतूनां मुख्यार्थवाधादीनामभावात् । तदेवाह—लक्ष्यं न मुख्यमित्यादिना । तीररूपोऽर्थो गङ्गापदशक्यो नास्ति । न वा तीरे वापाधारत्वादेर्वाधः । नापि पावनत्वादिना तीरस्य सम्बन्धः प्रयोजनान्तरं वा, किञ्च गङ्गाशब्दस्तीरमिव पावनत्वादिकं बोधयितुं नाहति इति न । वाच्यायस्य वाधे सति इतरार्थप्रतीतेर्वक्तुं शक्यं वाच्यं चात्र तथा शब्दः स्वरलङ्घति । स्वरलङ्घी गतिर्यस्य एवभूतः । वाधग्रहः एव नास्तीति तात्पर्यम् । किञ्च लक्षणायाः कथञ्चित् स्वोक्तिप्रमाणायामपि तत्र कूटधर्माभावात् प्रयोजनान्तरं वक्तव्यम् । तस्यापि प्रयोजनान्तरमित्यनवस्था स्यात् । ननु मास्तु प्रयोजनमात्रे लक्षणाः । पावनत्वादिवि-

विशिष्टे तीरे लङ्घनायां नोक्तदोषः । न च तत्र प्रयोजनाभाव इति वाच्यम् । 'गङ्गा-  
यास्तटे घोषः' इत्यन्ताऽधिष्ठार्यप्रतीतिरेव प्रयाजनत्वादत आह—प्रयोजनेनेति ।  
प्रयाजनविशिष्टे तीरे लङ्घना न सम्भवति, कुतः ? इत्याह ज्ञानस्येति । अयं  
भावः । कार्यकारणयोः पूर्वोपर्यस्य व्यवस्थितत्वेन 'नीलो घट' इत्यादौ घटविषय-  
कप्रत्यक्षोत्तरं ( ज्ञाता घट इति ) विषये ज्ञाततात्पर्यरूप फल भवतीति भाटाः ।  
सैव प्रकटता नाम । घटविषयकज्ञानवानहमित्याकारकानुव्यवसायापरपर्याया सवि-  
त्तिरेव फलमिति मुरारिमिश्रमनानुयायिनः । एवञ्च तीरोपस्थित्युत्तरभाषिण्याः  
शैत्यपावनत्वादिप्रतीतेः समानकालिकत्वं न सम्भवतीति न प्रयाजनविशिष्टे  
लङ्घना वक्तुं शक्यते, तदाह विशिष्टे लङ्घना नैवमिति । तदादौ लङ्घिते सति  
पावनत्वादयो विरोधाः प्रतीयन्ते तत्प्रतीतिकरणीभूतो व्यापारो व्यञ्जनपावननघो-  
तनादिशब्दवाच्यः अवरयं स्वीकार्यः ।

प्र० १२—व्याख्यायतामियं कारिका—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते

फले शब्दकगम्येऽत्र व्यञ्जनाभापय क्रिया ।

उ० १२—व्यञ्जनानिरूपणावसरे सा व्यञ्जनाद्विधा-शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा चेति  
वक्ष्यते । तत्र शब्दनिष्ठा पुनरपि द्विधा 'अभिधामूला लक्षणामूला च । तत्र  
पद्यप्यभिधायाः प्राथम्यादुपजीव्यत्वाच्च तन्मूला प्रथमं निरूपयितुमुचिता तथापि  
सुप्रसिद्धत्वाच्च लक्षणायाः प्रकृतत्वाच्च तन्मूलमेव प्रथमं निरूपयति 'तत्र व्यापा-  
रो व्यञ्जनात्मकः' इति । तत्र लाक्षणिकशब्दे व्यापारो व्यञ्जनाप्रकाशानुकूलः ।  
लक्षणादिनैव तत्प्रतीतिः किं तथेत्यत आह—यस्य प्रतीतिमिति । अनया कारिक-  
याऽर्थापत्तिरूपप्रमाणं प्रदर्शितं भवति । अत्र 'लक्षणा' इति पदं लक्षणया लाक्षणिक-  
शब्दपरम् । यद्यपि शैत्यपावनत्वादिरूपफलस्य प्रतीतिः अनुभवरूपामाधातुं  
जनयितुं लक्षणा लाक्षणिकः शब्दः समुपास्यते आध्रीयते । सत्यपि वाचकशब्दे  
( गङ्गायां घोषः' इत्यत्र ) तं विहायादियते । शब्दैकगम्ये लाक्षणिकशब्दमात्र-  
गम्ये ( न त्वनुमानादिगम्ये ) अत्र तस्मिन्फले ( नान्यतस्तत्प्रतीतिरिति तु तस्मादेव  
शब्दात् ) शैत्यपावनत्वादिप्रयोजनविषये व्यञ्जनाद् व्यञ्जनं विना व्यञ्जनं  
विहाय अपरा क्रिया अन्यो व्यापारो न इत्यर्थः । किन्तु व्यञ्जनात्मक एव व्यापार  
इति भावः । एवं लाक्षणिके शब्दे प्रयोजनबोधचमो व्यञ्जनाभिधो व्यापारः ।

ननु लक्षणयैव प्रयोजनोपस्थितिनिवहिऽल व्यञ्जनये याह—यस्य प्रतीतिमाधातुमिति । केवल तन्मात्र यदि प्रतिपिपादयिषित तर्हि 'गङ्गातटे घोष' इत्येव वाच्यम् । अतस्तस्य प्रयोजनान्तर वक्तव्यम् । तत् सिद्धये एव लाक्षणिकशब्दप्रयोग । सा च प्रयोजनसिद्धि गङ्गाशब्दे सत्येव भवति, नान्यथा । अतः शब्दनिष्ठो व्यञ्जनाभिधो व्यापार तत्प्रतीतये स्वीक्रियते । यतस्तस्य व्यापारान्तरेण प्रतीतिर्वक्तुं न शक्या इति ।

प्र० १३—'हेत्वभावात् लक्षणा' इत्यस्य क आशयः ।

उ० १३—'गङ्गाया घोष' इत्यत्र गङ्गाशब्दस्य लाक्षणिकप्रयोग शैषपावनत्वादिप्रयोजनप्रतिपत्तये कृतः । तत्र व्यञ्जनाद्वे नाम्नो व्यापारस्तत्प्रतीतिमाधातु प्रभवति । तथा हि नाभिधा समयभावात् । समय सकेतः । अभिधा सकेतसहायैवोपयुज्यते । 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ गङ्गादिपदानां शैषपावनत्वाद् सकेताभावात् सकेतितार्थे एवाभिधाया प्रसरात् । नापि लक्षणाव्यापारः । अतः उक्तम् 'हेत्वभावात् लक्षणेति' । लक्षणायाः किल मुख्यार्थबाधतयोग रुद्धिप्रयोजनान्यतरश्च कारणम् । तदेतन्मुख्यार्थबाधप्रयम् । न ह्यत्र तेषां सत्ता तद्वोपपादयति 'लक्ष्यं न मुख्यम्' इति कारिकायाः । तद्यथा—'लक्ष्यं न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो, योगः फलेन नो' । न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्वलङ्घति' इति । 'गङ्गाया घोष' इत्यत्र गङ्गाशब्दस्य प्रवाहो मुख्योऽर्थः । तद्वाधस्तीरसम्बन्धश्च । तीरस्य लक्षणोपस्थाने मुख्यशब्देन प्रतिपादयितुं शक्यस्य शैषपावनत्वाद् प्रतीतिः प्रयोजनमिति गङ्गाशब्देन यथा तत्र लक्ष्यते तद्वद्यदि तटं मुख्यं स्यात् तस्यात्र बाधः प्रयोजनस्य च शैषादेस्तटेन सम्बन्धः स्यात्, तस्य च प्रयोजनान्तरं च किञ्चिन्नवेत्तदा गङ्गाशब्दः प्रयोजनं लक्षयेत् । न ह्यत्र तटं मुख्योऽर्थः । नापि तत्र बाधः । तटे घोषाधारत्वस्य सत्त्वात् । न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनीयत्वाद्यैर्लक्षणीयैर्धर्मैः सम्बन्धः (योगः फलेन नो) तत्र तेषामभावात् । नापि प्रयोजनान्तरं येन लक्षणा स्यात् । किञ्च गङ्गाशब्दो न तटमिव प्रयोजनप्रतिपादयितुमसमर्थः । वाच्यार्थस्य बाधः सति इतरार्थप्रतीतिर्वक्तुं शक्यत्वाच्च चात्र तथा शब्दः स्वलङ्घति । स्वलङ्घनी गतिर्यस्य । एवम्भूतः । बाधग्रहः एव नास्तीति तात्पर्यम् ।

प्र० १४—समुपपाद्यताम् 'एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी' इति कारिकांशः ।

उ० १४—प्रयोजनस्य लक्ष्यत्वमेव नास्तीति 'हेत्वभावाच्च लक्षणे'त्यादिना प्रतिपादितम् । किञ्च लक्षणाया कथञ्चित् स्वीक्रियमाणाया तत्र रूप्यभावात्प्रयो जनान्तर वक्तव्यम्, तस्य पुन प्रयोजनान्तरमिति अनवस्था स्यात् । बीजाङ्कुर न्यायेन अनवस्था न दोषायेत्याहङ्कावाह 'या मूलक्षयकारिणी मूलक्षतिकारिणी चेति प्रयोजनपरम्पराया लक्षणास्वीकारे प्रयोजनान्वेषणस्यापर्यवसानेन प्रस्तुतस्य पावनत्वादस्तीरादेर्वा बोधानुद्बधप्रसङ्गः । 'मूलक्षतिकरीं चाङ्कुरनवस्था च दूषणम्' इति बीजाङ्कुरवदनवस्था न दूषणमित्यपास्तम् ।

प्र० १५—'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते' इत्यस्य कोऽर्थः ।

उ० १५—ननु न केवल प्रयोजन लक्ष्यते किन्तु प्रयोजनसहितं तदादि, इत्यतो नोक्तदोषप्रसङ्गः । अत आह—पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तट लक्ष्यते । 'गङ्गा यास्तटे घोष' इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति, इति शीतपावनादिविशिष्टे तटे लक्षणा, तर्हि क्व व्यञ्जनयेति । ननु शैत्यपावनत्वादियुक्तमेव तट गङ्गाशब्देन लक्ष्यते तर्हि क्व व्यञ्जनया ? न चात्र प्रयोजनाभाव इति वाच्यम् । गङ्गातटे घोष इत्यतोऽधिकार्थप्रतीतिरेव तत्प्रयोजनत्वादित्यत आह—प्रयोजनेन सहितेति । अत्र लक्षणीय लक्षणाज्ञम्यज्ञानविषय ( तटम् ), प्रयोजनेन प्रयोजनीभूतज्ञानविषयेण ( पावनत्वादिना ) सहितं न युज्यते इत्यन्वयः । कुत इत्याह—ज्ञानस्येति । अयमर्थः । कारणकार्ययोः पूर्वोपर्यं वदतम् । प्रत्यक्षा-वेर्नालादिविषयः । तत्फलञ्च विषये ज्ञाततोत्पत्तिः । विषयविनाशिस्मृत्युपपत्तेरात्मनि वा नीलविषयकज्ञानवानहमिति अनुब्यवसायः । शैत्यपावनत्वादिप्रतीतिश्च तीरोपस्थित्युत्तरमाविनीति तयो सामानाधिकरण्यं न सम्भवतीति ।

प्र० १६—व्याख्यायतां सूत्रमिदं 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य फलमन्य दुदाहृतम्' इति ।

उ० १६—अत्र 'हि'शब्द प्रसिद्धार्थकतया दृष्टान्तार्थकः । 'अन्य'शब्दो ज्ञानादन्य इत्यर्थकः । एवमन्यदित्यपि ज्ञानादन्यदित्यर्थकम् । तथा च यथा विषयो ज्ञानादन्यस्तथा ज्ञानस्य फलमपि ज्ञानादन्यत् । फलफलिनो

समसमयसमुत्पादासम्भवात् । तत्र दृष्टान्तमाह—प्रयत्नादेरिति । अहमिन्द्रिय  
प्रति यदुत्पद्यते ज्ञान तत्प्रत्यक्षम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानमित्यर्थः । आदि  
पदेनानुमानादेर्ग्रहणम् । अन्वरमामासकमतेनाह—प्रकटनेति । घटज्ञानानन्तर  
'ज्ञातो घट' इति प्रत्ययात् तज्ज्ञानेन तस्मिन्धे ज्ञाततात्परनाम्नी प्रकटता जायते  
इति अन्वरमामासकमीमासा । एवञ्च 'ज्ञेयधर्म' प्रकटता पूर्वमीमामकै प्रयत्नादि  
ज्ञानस्य फलम् इत्युच्यते' इति भावः । तार्किकमतेनाह—'सवित्ति रिति । सति  
च घटज्ञाने 'घटमह जानामि' इति प्रत्ययरूपा अनुप्रयत्नमायापरपर्याया सवित्ति  
घटज्ञानाजायते इति तार्किकवक्तव्यम् । एवञ्च 'ज्ञातधर्म सवित्ति तार्किकै मुरारि  
मित्रादिभि प्रयत्नादिज्ञानस्य फलमिति उच्यते' इति भावः । तथा च एतयो  
( प्रयत्नस्य ) द्विपक्षफलयो प्रयत्नाद्विज्ञानेन यथा सुचक्षुः तथा लक्षणाव्य  
ज्ञानात् तत्फलस्य पावनवादिज्ञानस्यान्य वनधरयमपितत्प्यमिति भावः । यथा  
करणत्वेन ज्ञानाद् विषयो भिद्यते तथा कार्यत्वेन फलमित्यर्थः । अन्यथा तीरव  
पावनत्वज्ञानयोरभेदे ज्ञानजनकभावात्तुल्यपक्षेति । एवञ्च लक्षणाव्यज्ञानविष  
यत्वेन तत्फलस्य शैत्यपावनत्वादेर्लक्षणाविषयश्च न युक्तमित्यर्थः ।

प्र० १७—अभिधामूलव्यञ्जना ग्रन्थकार्येकादिशा प्रतिपाद्यताम् ।

उ० १७—तत्र कारिका—'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।  
सयोगाद्यैरवाच्यायार्थधीकृष्ट्यापृतिरथनम्' इति । तथा च 'सयोगो विप्रयोगश्च माहचर्यं  
विरोधिता । अर्थं प्रकरणे लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः । सामर्थ्यमौचित्यं द्वेष  
फालोव्यक्तिः स्वराद्यः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्तुतिहेतवः' । इत्युक्तदिशाग्रे  
व्याख्यानम् प्रक्रमते । इत्थं लक्षणां मूल व्यञ्जकत्वमुक्त्वाऽभिधामूलमाह—अने  
केति । अनेके अर्था वाच्यत्वेन यस्य तस्यानेकार्थस्य नानार्थकस्य शब्दस्य  
वाचकत्वे अभिप्राया प्रकरणादिभि नियन्त्रिते एकत्र सीमिते सति अवाच्यार्थं  
सदाभिधया प्रतिपादयितुमशक्यः । तद्दीकृत् तत्प्रतीतिहेतुः या व्यापृतिः व्यापार  
सा अथन व्यञ्जनमित्यर्थः । अयं भावः । एकस्य वर्णममूहान्न पदस्यानेकत्रा  
नेकैव शक्तिः । शक्यतावच्छेदकभेदेन तद्भेदात् । ततश्च यस्मिन्नर्थे तात्पर्यप्राप्तक  
प्रकरणादिकमवतरति तद्गोचरशक्या तदर्थोपस्थापनम् । अन्यस्याश्च विरोधानम् ।  
तथा निरुद्धतयाऽभिधया बोधयितुमशक्यार्थस्य बोधने प्रभवन्ती वृत्तिर्यथाना नम् ।  
इत्यभिधामूला शब्दी व्यञ्जनेत्युच्यते इति वक्ष्यम् । न तु श्लेषपदमिधात एव

द्वितीयार्थग्रहः स्यादिति शङ्कानिवारणायोक्तं वाचकत्वे नियन्त्रिते इति । 'न च संयोगादिनाऽभिधावद् व्यञ्जनापि नियन्व्यतामिति वाच्यम् । संयोगादिकमतिक्रम्य बोधकत्वेन तत्सिद्धेः ।

संयोगादीनां वाचकत्वनियामकत्वे भर्तृहरिसम्मतिमाह—'संयोग' इत्यादिना । संयोगः प्रसिद्धसम्बन्धः । विप्रयोगो विभागः । साहचर्यं संभूयावस्थानम् । सादृश्यं वा । विरोधिता सहानवस्थानम् । अर्थः प्रयोजनम् । प्रकरणं वक्तृश्रोतृ-  
बुद्धिस्थता । लिङ्गं संयोगातिरिक्तसम्बन्धेन परपक्षव्यावृत्तो धर्मः असाधारणो धर्मो  
वा । व्यक्तिलिङ्गं पुंस्त्वादि । सामर्थ्यं कारणता । औचित्यं योग्यता । देशकालौ  
तद्विशेषौ । स्वरः उदात्तादिः । एवमेतैः शब्दवाच्यार्थस्यानवच्छेदे कठमोऽर्थोऽत्र  
विवक्षित इति संदेहे सति विशेषस्मृतिहेतवः विशेषस्य विवक्षितार्थस्य वा  
स्मृतिज्ञानं तद्वेतवः तज्जनका भवन्तीत्यर्थः ।

तत्र संयोगः प्रसिद्धार्थस्य गुणविशेषरूपः सम्बन्धस्तेनाभिधानियमनं यथा  
'सशङ्खचक्रो' हरिरित्यत्र शङ्खादिसंयोगेनानेकार्थस्य हरिशब्दस्याच्युतेऽभिधा नि-  
यम्यते । अन्यहरिपदार्थे तत्संयोगाभावात् । विप्रयोगस्तावत्तत्सम्बन्धध्वंसः  
तेन यथा 'अशङ्खचक्रो' हरिरित्युच्यते । सम्बन्धस्य प्रतियोगिपूर्वकत्वात् । साहचर्यं  
सहचरता तेन यथा रामलक्ष्मणाविति रामपदस्य लक्ष्मणसाहचर्येण दाशरथी ।  
विरोधः सहानवस्थानं ध्वयघातकभावश्च यथा रामार्जुनगतिस्तयोरिति रामार्जुन-  
पदयोः भार्गवकार्तवीर्ययोः । अर्थः प्रयोजनम् तेन यथा 'स्थापुं भज भवच्छिदे'  
इत्यत्र भवच्छेदनरूपप्रयोजनवशात् स्थापुशब्दस्य हरे । प्रकरणं वक्तृश्रोतृबुद्धि-  
स्थता, तेन यथा 'सर्वं जानाति देव' इत्यत्र देवशब्दस्य राजानि । यत्तु 'युष्मदर्थे'  
इति व्याख्या तस्या अपि प्रकृते राजादावित्यर्थः । किंवा सग्नौध्ये राजादावि-  
त्यर्थः । लिङ्गं संयोगातिरिक्तसम्बन्धेन परपक्षव्यावृत्तो धर्मः । तेन यथा 'कुपितो-  
मकरध्वजः' इत्यत्र मकराकारध्वजसमुद्राम्यां व्यावृत्तेन समवायसम्बन्धवत्ता कोपेन  
मकरध्वजशब्दस्य कामे, यत्तु लिङ्गं चिह्नमिति तत्र कोपस्य कामचिह्नत्वाभावात् ।  
असाधारणधर्मस्य चिह्नत्वात् । सशङ्खचक्र इत्यत्रातिव्याप्तिप्रसङ्गाच्च । शब्दस्यान्य-  
स्य सन्निधिः । नियतार्थकशब्दान्तरसामानाधिकरण्यम् । अतो भवच्छिदे इत्यादाव-  
प्रसङ्गः । न च सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रातिव्याप्तिः । शङ्खचक्रशब्दसामानाधिकरण्या-  
भावात् । यद्वा हरो शङ्खचक्रे सति संयोगादोहरणे तात्पर्यम् । तेन यथा 'देवस्य  
त्रिपुराराते' इत्यत्र त्रिपुरारातिशब्दसामानाधिकरण्याद् देवशब्दस्य शम्भुरूपेऽ-

मरे, अन्यस्य देवशब्दार्थस्य राज्ञिपुरारातित्वाभावात् । यत्तु देवतान्तरस्या तथाभावाच्छक्तिनियमन सम्भाविति तन्न युक्तम् । देवतान्तरे देवशब्दस्य शक्ति भेदाभावाद् उदाहरणासामञ्जस्यापत्ते । सामर्थ्यं कारणत्वम् । तेन यथा 'मधुना मत्त कोकिल' इति । अत्र मधुशब्दस्य वसन्ते । अन्यस्य मधुशब्दार्थस्य कोकिल मादनासामर्थ्यात् । औचित्ये अहंता तथा यथा—'पातु वो दयितामुखम्' इति । अत्रोत्कण्ठितमनोरथसाधनौचित्येन 'मुख' शब्दस्य सामुख्यं न तूपायादौ । यद्यप्यत्रापि सामर्थ्यं सम्भवत्येव तथापि मधुनेत्यत्र तृतीययेव तद्विधाभावेऽपि औचित्येनात्रज्ञानादेव शक्तिनियमनमसङ्गीर्णम् इति । देशेन यथा 'आत्यत्र परमेश्वर' इति । अत्रेति राजधानीरूपाद् देशात् परमेश्वरपदस्य राजमि । कालेन यथा—'चित्रमानु र्विभाति' इति । अत्र चित्रमानुपदस्य दिवा दिवाकरे, रजन्यामाशुशुण्णौ बह्वी वा । अपत्तिर्लिङ्गं पुस्त्यादिस्तथा यथा 'मित्र भातीति' अत्र नपुसन्लिङ्गात् मित्रपदस्य सुहृदि । 'मित्रो भाती'त्यत्र पुलिङ्गात्सूर्ये । स्वरस्त्वदात्ताविर्वेदे बाहुल्येनार्थप्रतीतिरूद् हरयते । यथा 'इन्द्रशत्रो वर्धस्व' इति । अत्र 'इन्द्रशत्रो' इत्यस्यान्तोदात्त वे पठ्यतेपुरुषस्यत्वात् इन्द्रस्य शासनकर्मत्वं लक्ष्यते । पूर्वपदान्तोदात्ताद्बहुव्रीहौ च 'इन्द्र शातयिता यस्य' इति इन्द्रस्य शासनकर्तृत्वं लक्ष्यते । काव्ये तु नैव बाहुल्यम् । काव्येषूदात्तादीनां नार्थविशेषनियामकता । अत एवोक्तं—'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति । अत्र स्वरपदेनोदात्तानुदात्तस्वरितान्तरम् । ननु काव्येऽपि स्वरो विशेषप्रतीतिरूद्स्येव । यथा 'ममामि कौरवशतम्' इत्यादौ काङ्क्षस्वरादिना विशेषार्थावगतेरिष्टत्वात् । अतोऽत्र स्वरशब्देनोदात्तादेरेव विवक्षितत्वात् । यद्वा अभिधानियामको स्वर वेदे एवानुशासनात् न तु काव्ये । 'स्वराव्य' इत्यादि ग्रहणादभिनयापदेशौ गृह्येते । अन्ये चोक्तान्तर्भूता । अभिनयश्च साक्षाद्विधार्था वारादिप्रदर्शिका हस्तादिक्रिया तथा यथा 'एहमेतत्' इति प्राकृतं पद्यम् । अस्य छाया—'एतावन्मात्रास्तनिका एतावन्मात्राम्यामहिपत्राम्याम् । एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसै' इति । अत्र विकसितमुकुलिताभिनयविशेषा स्तनस्य पीनत्वमुकुलिताद्यर्थविशेषेऽभिधा नियम्यते । एव विशेषपादत्रयेऽपि अपदेशोऽभिमतनिर्देश तेन यथा । 'इत स दैत्य प्रासथ्रीर्नेत एवाहति' इत्यम् । विपष्टोऽपि सार्थं स्वयं ज्ञेयमसाम्प्रतम् । अत्रापदेशेनेद् शब्दस्याभिधा वक्तरि नियम्यते । इयसयोगादिनाऽर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽपि यत्र कचिदनेकार्थ शब्देनार्थान्तरप्रतिपादनम् तत्र नाभिधा, एकत्रार्थे तस्या नियतत्वात् । नापि लक्षणा,



सुरयार्थवाधायभावात् । किं त्वञ्जन व्यञ्जनमेव व्यापार । तस्य च शाब्दावयव्यतिरेकाभ्यां शाब्दत्वमिति उपरिष्ठात्यतिपादितम् । 'भद्रात्मन' इत्यभिधामूलव्यञ्जनाया उदाहरणम् । अत्र प्रकरणाद्राजरूपार्थे नियन्त्रिते द्वितीयगजरूपार्थं प्रतीतिरभिधामूलव्यञ्जनया । तद्युक्तो व्यञ्जनाव्यापारयुक्त शब्दो व्यञ्जक । ननु शब्दमात्रस्य व्यञ्जकत्वे कथं शब्दार्थयुगलस्य काव्यस्य ध्वनित्वमित्यत आह—  
यदिति, तथेति । अर्थोऽपि व्यञ्जकस्वभावप्रवृत्तार्थबोधानन्तरमेव व्यङ्ग्यार्थबोधा-  
र्थस्य सहकारित्वमित्यर्थः ।

इति द्वितीयोऽङ्गात् समाप्तः ।



## अथ तृतीयोल्लासः

प्रश्न १—अर्थव्यञ्जकताप्रतिपादनाय व्याख्यायतां निम्नोल्लिखित-  
सूत्रवचनम्—

वस्तु-बोद्धव्य-काकूनां धान्यवाच्यान्यसन्निधे

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।

योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ इति ।

उ० १—एवं शब्दे निरूपिते उपोद्घातेन शब्दव्यञ्जनाया निरूपितायां  
प्रसङ्गेनार्थव्यञ्जना निरूपणीया । तदेतदाशङ्क्यते शब्दे निरूपितेऽवसरोऽयमर्थनिरु-  
पणस्य । किञ्च, अर्थं धर्मिणि निरूपिते तदर्थो व्यञ्जना सुनिरूपा भवति । तदुक्त-  
स्तमनाहं वाहस्य व्यञ्जनानिरूपणमिति । तदेना कङ्कामपनिनीपुरुक्त स्मारयति—  
'अर्था मोक्षा पुरा तेषाम्' इति । अर्था वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्या । अर्थस्य सन्निकृष्ट-  
तरत्वेऽपि तेषामित्यनेन योग्यतया वाचकादय शब्दा परामृश्यन्ते । शिष्यावधा-  
नाय प्रतिनानीते—'अर्थव्यञ्जकतोच्यते' इति । ननु सर्वेषामित्यादिना ( सर्वेषां  
प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीप्यते' इति कारिकार्थेन यत्पूर्वमुक्तम् ) पूर्वमर्थानां  
व्यञ्जकता मोक्षेव । तदन्या कीदृशी सेत्याकाङ्क्षायामाह—वस्तुबोद्धव्येति । य-  
परप्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति ॥ वक्ता । स च कविस्तत्त्वज्ञो नायकादिश्च ।  
बोद्धव्य प्रतिपादनीयो जन अन्तर्भावितव्यर्थत्वात् । कायत्यर्थान्तरमिति काङ्क्षु ।  
'कै शब्दे' इति धातु । अथवा काङ्क्षुनिष्ठा । तदन्यापारविशेषसम्पाद्यत्वात् शोक-  
भीत्यादिभिर्ध्वनेर्विचार । तथा च साकाङ्क्षाणां पदानां समूहो वाक्यम् ।  
शक्योऽर्थो वाच्य । अन्यस्य वस्तुबोद्धव्यभिन्नस्य सन्निधि अन्यसन्निधि ।  
वाक्यवाच्याभ्या सहितोऽन्यसन्निधि वाक्यवाच्यान्यसन्निधि । तेनेतरेतरद्वन्द्वे एक-  
वद्भावो नपुंसकत्वन । प्रस्ताव प्रकरणम् । देशो विननादि, कालो वसन्तादि । आदि-  
शब्दप्राद्विशेषादि । तेषां वैशिष्ट्याद्वैलक्षण्यात् । तच्च वक्त्रादि प्रत्येक सम्बध्यते ।  
प्रतिभाजुषाम् प्रतिभा वासना । नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिं प्रज्ञा वा । तद्वताम्  
काव्यवासनापरिपक्वबुद्धीनाम् । सहृदयानामिति यावत् । याऽन्यार्थधी । अन्यो  
वाच्यलक्ष्यव्यतिरिक्तो योऽर्थ व्यङ्ग्यरूपस्तद्गीस्तत्पतीति तद्वेतुर्योऽर्थस्य वाच्य-  
लक्ष्यव्यङ्ग्यरूपस्य त्रिविधस्यार्थस्य व्यापारो व्यक्तिरेव । व्यज्यतेऽनयेति करण-

व्युत्पत्त्या व्यञ्जनैवेति सूत्रार्थः । अत्र वैशिष्ट्यादिति पञ्चमर्थः सहकारिरूपं हेतुत्वम् । तच्च तदभावे व्यञ्जाननुदयादोध्यम् । पृथं चक्रादिवैलक्षण्यहेतुका या प्रतिभाशालिनामन्यार्थधीस्तदेतुर्व्यापारत्वमस्याः स्वरूपमिति बोध्यम् ।

वक्ष्यमाणोदाहरणेषु वैशिष्ट्यविशेषोऽविदग्धानां दुर्ज्ञेय इति सूचयन् वृत्ति-  
वृत्ताह—क्रमेणोदाहरणानीति । वक्तृवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—  
'अहपिबुलं' इति प्राकृतपद्येन । अस्य छाया—'अतिपृथुलं जलबुलं गृहीत्वा  
समागताऽस्मि सखि स्वरितम् । अमस्वेदसलिलनिःस्वासनिःसहा विश्राम्यामि  
क्षणम्' इति । जलाहरणवर्मनि नदीगहने उपनापकोपभुक्तायाः घर्मजलनिः-  
श्वासाद्युपभोगचिह्नेनोपभोगं सम्भावयन्तीं सखीं सम्बोध्य कस्याधिभुक्तिरियम् ।  
अत्र प्रमाणान्तरेणासतीत्येवंगते सति व्यभिचारिणी वदतीति वक्तृवैशिष्ट्याद्  
वाच्यघटितवाक्यार्थस्य चौर्येण कृतं रतं गोपायतीति सामाजिकान् प्रतिभा-  
शालिनः प्रति व्यङ्ग्यमिति भावः । अत्र वक्त्री कामिनी । तस्या दुःशीलस्वरूप-  
वैशिष्ट्यं विज्ञानन्तं चौर्यरतगोपनं व्यक्तीभवति । अत्र शब्दपरिवृत्तिसहत्वा-  
द्यस्यैवेयं वृत्तिः ।

योद्धव्यवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'ओर्णिङ्' इति पद्येन  
अस्य छाया—'ओर्णिद्रथं दीर्घद्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिःशसितम् । मम मन्दभागि-  
न्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति' इति । कृतस्वकामुपसम्भोगां दूतीं  
प्राप्युपभोगचिह्नैस्तं सम्भोगं ज्ञातवत्या नायिकाया उक्तिरियम् । अत्र दूती  
योद्धव्या । तस्या अन्यदापि दृष्टदुष्टचेष्टायाः वैशिष्ट्येन तस्याः कामुकोपभोगो  
व्यज्यते ।

काकुवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'तथाभूताम्' इति येनी-  
संहारनाटकस्थपद्येन । तत्र प्रथमादौ कुरनिप्रदाद्यनुद्यमेन युधिष्ठिरमुपालभमानं  
भीमं प्रति सहदेवस्य 'आर्य, कदाधिर् लिखते गुरः' इत्युपालम्भनिषेधपरवा-  
क्यस्योत्तरे 'गुरः किं रोदमपि जानाति' इत्युपक्रम्य भीमसेनोक्तिरियम् । 'स्त्रिये'  
'दि. गुरः साक्षादनभियोज्यो युधिष्ठिरः । इत्यममुना कारणेन  
म्लाने मयि रोदं मात्सर्यं भजति अद्यापि एवंविधदुरपरधाधामपि अपश-  
'न. १. अत्र 'नत्रि' काकुः । सद्भक्तिप्रवृत्त्या 'यसि न. योयं यामयं, पुण्य

तु योग्यम्' इति व्यज्यते । ननु पात्रापात्रवैपरीत्येन खेदस्य करणाकरणरूप-  
वाक्यार्थस्य अयुक्तनयाऽपर्यवसानस्य पर्यवसानरूपसिद्धौ व्यङ्ग्योपस्थापनद्वारा  
काकुरेव प्रभवतीति काकोर्वाच्यसिद्धयङ्गत्वे तद्द्वारोभूतस्य व्यङ्ग्यस्यापि तथात्वेन  
गुणीभूततया गुणीभूतव्यङ्ग्यमिदमुदाहरणं न तु ध्वनिरित्याशङ्क्य निराकरोति-  
'न च वाच्यसिद्धयङ्गमत्र' इत्यादिना वृत्तौ । अत्र नेति प्रश्नकाकावाऽपि  
वाक्यार्थप्रतीतिपर्यवसानात्, यां काकुं विना वाक्यार्थघोष एव नोपपद्येत तद्यै-  
वाक्षित्यस्य गुणीभावात् । यथा 'ममनामि कौरवशतम्' इत्यत्र भीमसेनादितादृश-  
वक्त्रि । तदेतदुक्तं 'प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेरिति' ।

वाक्यवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'तद्वा मह' इति प्राकृतपद्येन  
तस्य ज्ञाया—'तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र । इदानीं सैवाहं  
तौ च कपोलौ न सा दृष्टि' इति । नायिकाभयाक्षिकटवर्तिनीमन्यां प्रियतमां  
साक्षादपहाय नायिकाकपोलगतं तत्प्रतिविम्बं नायिकामुखावलोकनमियेण सादरं  
दृष्ट्वा तत्प्रतिविम्बापगमे तादृशनिरीक्षणनिवृत्तं नायकं प्रति दृष्टिधिकारेण ज्ञात-  
रहस्याया नायिकाया उक्तिरियम् । तथा च वाक्यमनेकं पदम् । तेनात्र तदे-  
दानीं पदात्मकवाक्यवैशिष्ट्यात् 'मत्सर्त्तौ कपोलविम्बितां पर्यवस्यते दृष्टिरन्यादृशी,  
चलितायां तु तस्यामन्यादृशीत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं तवे'ति व्यज्यते ।

वाच्यवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'उद्देशोऽयं सरसः' इति  
पद्यम् । अत्र नर्मदोददेशरूपस्य तद्विशेषणीभूतवातकुञ्जादिरूपस्य च वाच्यस्य-  
यथोक्तविशेषणस्य वैशिष्ट्यात् 'सुरतार्थं प्रविशे'ति व्यज्यते ।

अन्यसन्निधिवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'णोल्लङ्घ अणोः' इति  
प्राकृतं पद्यम् । अस्य ज्ञाया—'नुदत्यनार्द्रमनाः श्रद्धामां गृहभरे सकले । क्षणमात्रं  
यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विध्राम' इति । गुरुजनसन्निध्येन निशिप्य  
वक्तुमशक्नुवन्ती काचित् तटस्थतयेव सन्निहितमुपनायकं प्रति सङ्केतकालसूच-  
नाय प्रतिवेशिनीं सम्बोध्य शश्रूपात्ममाह । अन्यसन्निधिः, सन्निहितोऽन्यः  
तेनाह प्रतिवेशिनीं प्रति प्रवर्तिते वाक्ये प्रच्छन्नपुरुषरूपस्यान्यस्य सन्निधेर्वैशिष्ट्यात्  
सन्निहितं प्रति सन्ध्या सङ्केतसमय इति व्यज्यते ।

प्रकरणरूपप्रस्ताववैशिष्ट्याद् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'सुन्वइ समा-  
गमिस्सदि' इति प्राकृतं पद्यम् । ज्ञाया—'अयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य

प्रहरमात्रेण । एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि सज्जय करणीयम्' इति । उपपत्तिं प्रत्युपसर्तुं प्रस्रियता नायिकां प्रति प्रियप्रत्यागमनवार्तां श्रुतवत्यास्तत्परया जनान्तरसन्निधानेऽभिसरणनिवारणोक्तिरियम् । अत्र प्रकरणस्य प्रस्तावस्या भिसारसम्बन्धित्वरूपवैशिष्ट्यादुपपत्तिं प्रयमिसर्तुं न योग्यमिति व्यज्यते ।

देशवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'अन्यत्र यूय कुसुमाव०' इति पद्येन सखीवेषधारिणा श्लोपनायकेन सहागतां प्रियसखीं दृष्ट्वा सखी प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । अत्र देशस्यातिविरिक्ततादिरूपवैशिष्ट्याद् वक्तृवैशिष्ट्यादि सहितात्सख्या 'प्रच्छन्नकामुको युष्माभि प्रहेय' इति प्रियसखीं प्रति व्यज्यते । अत्र कुसुमावचायमुद्दिश्याम्यदेशाधिकरणकत्वस्य विधेयत्वेन प्राधान्याद्देशवैलक्षण्यादेव व्यञ्जकत्वम् । 'उद्देशोऽय' इत्युदाहरणे तु देशस्य विशेषणात्वेनाप्राधान्यात्प्रधानीभूतवाच्यस्यैव वैलक्षण्याद्वाञ्जकत्वमिति भेदः ।

कालवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'गुरुजनपरवश०' इति प्राकृतपद्यमस्य छाया—'गुरुजनपरवश प्रिय किं भणामि तवमन्दभागिनी अहकम् । अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम्' इति । अत्र 'अद्य' पदप्रतिपाद्यमधुसमयवैशिष्ट्याद् वक्तुरवस्थाविशेषसहितोदिताविधानीं यदि व्रजसि तदा अहं तावन्न जीवामि, तव तु न जानामि गतिमिति प्रिय प्रयनुरक्त्या व्यज्यते ।

आदिप्रहणाच्चेष्टालीलादे । तत्र चेष्टा यथा—( चेष्टावैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम् ) 'द्वारोपान्तनिरन्तरे०' इति पद्यम् । स्वगोचरचेष्टाविशेषेण नायिकाया स्वविषयकभावमवधारितवतो नायकस्य सखाय प्रयुक्तिरियम् । अत्रोदसमासज्ञादिचेष्टावैशिष्ट्यात् प्रच्छन्नकामुकविषय आकृतविशेषो ध्वन्यते । तत्र प्रथमार्धेन स्पष्टकमालिङ्गनम् । शिरोंष्ठकं पुरत आनीतमित्यनेन गूढमागच्छेरिति, अद्य चित्ते चले हेषने वाचस्तन्न निवारित प्रसरणमित्येताभ्यां सूर्यास्तसमये कोलाहलरहितं काले समागन्तव्यमिति, सङ्कोचिते हृदयेन पारितोषिकमालिङ्गनं करोमीति व्यज्यते । यद्यप्येकत्रैवोदाहरणे भेदान्तराण्यपि सन्तीति तदेवोदाहरणान्तरं सम्भवति तथापि नि सन्देहव्युत्पत्तये प्राप्तावसरतया पुन पुनरुदाह्रियते । 'कृतोदय्यादीनां प्रत्येकमेव न व्यञ्जकत्व, किन्तु मिलितानामपीति द्रष्टव्यम् ।

द्वयोर्व्यञ्जकत्वं यथा—'अत्ता एत्थ०' इति प्राकृतपद्यम् । छाया 'शश्वरूत्र' इति अत्राह दिवसके प्रलोक्य । मा पथिक रायन्ध शय्यायामावयोर्निम

ह्यसि' इति । अत्र गृहे श्वश्रूह च । श्वश्रू जरत्तरत्वेन बधिरा, निपन्दा च । जनान्तरसञ्चारस्तु नास्त्येव । अतो यथेष्ट मम शय्यायामेव स्वपिहीति व्यङ्ग्यं व्यभिचारिणोर्वक्तृबोद्धव्ययोर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषा प्रतीयते । एव त्रिकादिभेदा स्वयमवगन्तव्या ।

अनु अर्थमात्रव्यञ्जकत्वे शब्दार्थयुगलरूपकाव्यस्य व्यञ्जकत्वं न मिदमि-  
त्यत आह—

‘शब्दप्रमाणवैद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यत् ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ।

इति शब्दरूपप्रमाणेन वैद्यं प्रतिपादितोऽर्थं वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यरूप अर्थान्तरं व्यङ्ग्यलक्षणं व्यनक्ति प्रकाशयति तत् तस्मात्कारणात् अर्थस्य व्यञ्जकत्वे शब्दस्य सहकारिता विशेषणीभावाद् इति सूत्रार्थः ।

प्र० २—अत्र तृतीयोद्घासे ‘तथाभूतां दृष्ट्वा०’ इत्युदाहरणे घृत्ताजु-  
क्तम्—‘अत्र मयि न योग्यः खेदः, कुरुषु तु योग्यः’ इति काक्त्वा प्रका-  
शयते’ इति । तत्र क आशयो ग्रन्थकृतः स समीचीनतया प्रतिपाद्यताम् ।

उ० २—अत्र ‘गृहं खेदं मयि भजति नाद्यापि कुरुष्विति काकोर्वैशिष्ट्यान्मयि  
न योग्यः, कुरुषु पुनर्योग्यं मात्सर्यमिति व्यज्यते । नन्वत्रोक्तेन काकुष्यद्वेन वा  
व्यस्य सिद्धिः शोभनत्वनिष्पत्तिः क्रियते । तथा चापराङ्गतया व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्  
अतो न ध्वम्यद्वा काकुरिति, चेत् न, उक्तव्यङ्ग्यस्य क्रोधप्रकर्षपर्यवसन्नपा-  
वाच्यस्यैव तदङ्गत्वात् ( ध्वम्यङ्गत्वात् ) । नतु काकोर्वैशिष्ट्यसिध्यङ्गत्वम्, यद्योक्तं  
क्षेत्रीकर्महाशयै स्वीये व्याख्याने यथा—अत्र काकोर्वैशिष्ट्यसिध्यङ्गत्वं न व्यङ्ग्य-  
यांचेपद्वारा अपि तु न भजति इति प्रथमात्रोपस्थापनद्वारैव । तेन हि वाच्यार्थे  
पर्यवसन्ने सति व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति कुतो गुणीभूतव्यङ्ग्यवशज्ञा ।’ इति । तदेतदु-  
क्तम् नच वाच्यमिद्व्यङ्ग्यमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यं शङ्क्यम्, इति । तथापि  
काकाक्षितव्यङ्ग्यगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रभेदता कथमपनेया इति चेत् न । अत्र  
नेति प्रथकाक्षाऽपि कुरुषु पुनर्योग्यं मात्सर्यं इति वाच्यार्थप्रतीतिपर्यवसानात्  
यां काकुं विना वाच्यार्थबोध एव नोपपद्यते तथैवाक्षितस्य गुणीभावात् ॥

यथा 'मघ्नामि कौरवसतम्' इत्यादौ भीमसेनादौ तादृशे वक्तरि । तदेतदुक्तम् ।  
 प्रक्षमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेरिति । अत्रान्ये एवं कथयन्ति—कुरुषु न भञ्जि  
 इति नञ्कावुः किमर्था, ततः प्रक्षरूपः किमर्थं एवेहाक्षिप्त इति तस्यैव गुणीभावो  
 न्याय्यः, ननु क्रमेणाऽपि काक्का व्यङ्ग्यो गुणीभूतो भवति । अतएव गुणीभूत  
 विभागे काक्काक्षिप्तमिति आहुः ।

इति तृतीयोद्घातः समाप्तः ।



## अथ चतुर्थोल्लासः

प्र० १—लक्षणांमूलव्यङ्ग्यध्वनेस्तथाऽभिधामूलव्यङ्ग्यध्वनेश्च स्वरूपं सोपपत्तिकं निरूप्य तयोर्भेदानपि सोदाहरणं प्रतिपादयत ।

उ० १—अत्र काव्यप्रकाशे द्वितीयतृतीयोल्लासयोः शब्दार्थयोर्निर्णयः प्रतिपादितः । 'तददोषौ०' इति काव्यलक्षणे निरूपितौ शब्दार्थौ निरूप्य दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं क्रमप्राप्तमिति कृत्वा दोषाः हि अपकर्षजनकाः, गुणाश्चोत्कर्षहेतवः तथा अलङ्काराश्चोपकारका इति तेषां निरधिकरणस्यासम्भवात् कस्मिन्नधिकरणे एते उत्कर्षं जनयन्ति इत्यादि जिज्ञासा जायत एव । अत आश्रयत्वेन धर्मिणः प्राधान्यम् । अत एवाहुः । 'उद्देश्यतावच्छेदकरूपेणोद्देश्ये ज्ञाते सति एव किञ्चिद्विधातुं निषेधं वा शक्यते इति तस्मात् काव्यस्वरूपमनिरूप्य धर्मितावच्छेदकरूपेण धर्मिणमसंसाध्य तद्गता धर्मा विधातुं न शक्यन्त इत्युपजीव्यत्वाद् ध्वनिरूपकाव्यस्वरूपं निरूप्यते । अविवक्षितवाच्यो यस्तत्रैति । अत्र सामान्यरूपेणाज्ञातस्य विभागो न सम्भवति । विभागो नाम स्वसमभिध्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यपरस्परसमानाधिकरणयावद्भेदप्रकारकज्ञानानुद्बुद्धो व्यापारः । यावत्पर्यन्तं पदार्थतावच्छेदकं न ज्ञायते तावत्पर्यन्तं तद्व्याप्यधर्मज्ञानं न जायते इति पदार्थतावच्छेदकज्ञानं पूर्वमपेक्षितम् । अतश्च ध्वनिपदार्थतावच्छेदकस्याज्ञाने तद्द्वैविध्यविभागकथनमसङ्गतमिति तदाह यत्र ध्वनाविति । यद्यपि पूर्वं ध्वनिलक्षणं न कृतं परन्तु यत्पदघटितवाच्येन ध्वनेरुद्देश्यत्वबोधनादुद्देश्यतावच्छेदकरूपेणाऽज्ञाते सति तस्योद्देश्यता न सम्भवतीत्यनुवादसामर्थ्यादेव यत्र वाच्यमविवक्षितं प्रधानकवितात्पर्याविषयीभूतं तद्वुनिरिति कल्पनीयमिति भावः ।

लक्षणायां तात्पर्यानुपपत्तिः अन्वयानुपपत्तिरिति बीजद्वयम् । तत्र तात्पर्यानुपपत्तौ सत्यामर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो ध्वनिः । 'त्वामस्मि वच्मी'ति श्लोकेन नान्वयानुपपत्तिः किन्तु यथा कथनस्यानुपयोगमात्रम् । अतस्तत्र वचनत्वेन सामान्येन वचनविशेष्यस्य उपदेशस्य प्रतीतिरिति वाच्यार्थः । अर्थान्तरे स्वविशेषे सङ्क्रमितः । अन्वयानुपपत्तिमूलस्थले तु 'उपकृत'मित्यादौ उपकारादिवार्त्थोऽर्थः अत्यन्तं तिरस्कृतो नाम बाधितः । अतो वाच्यार्थादन्यदेवापकारादिकं लक्षयतीति सोऽयन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः । अत एवात्र जहन्नक्षणा । पूर्वम् अजहन्नक्षणा ।



अभिधामूलव्यङ्ग्यप्राधान्ये शून्यं वासगृहमित्यादौ वाक्यार्थप्रतीतेः ॥  
 प्रतीतिं प्रति कारणत्वात् तन्नाम्नयानुपपत्तितात्पर्यानुपपत्ती न स्तः । अपि तु तत्र  
 तात्पर्यं सत्यपि तावन्मात्रे तात्पर्यविश्रमाभावात् तद्वर्तेन व्यञ्जनाव्यापारेण रसा-  
 दिरपि प्रत्याच्यत इति विवक्षितान्यपरवाच्यो नाम ध्वनिः । स चासंलक्ष्यक्रम-  
 व्यङ्ग्य-लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति द्विविधः । आद्यो रसादिः । यतस्तत्र विभावानु-  
 भावव्यभिचारिसंयोगादसनिष्पत्तिरिति सूत्रानुसारेण संयोगस्य रसं प्रति हेतुत्व-  
 प्रतीत्या हेतोश्च पूर्वभावित्वनियमेन क्रमोऽस्त्येव । परं सामाजिकैर्वाक्यार्थप्रती-  
 त्यात्मकत्वेनैव रसादिप्रतीतेरनुभवात्क्रमो न प्रतीयते । उत्तरत्र तु अनुरणनन्यायेन  
 'उवणिञ्चले'त्यादौ निष्पन्वत्वेनाश्वस्तत्वम् । इत्यादिक्रमेणैव प्रतीयत इति संलक्ष्य-  
 क्रमव्यङ्ग्यध्वनिः । यत्र कैलासालयेत्यादिश्लोके परयेकश्चिदिति श्लोके च शृङ्गार-  
 भावशयलता वा प्रतीयते सा च 'सदा ग्रायता'मिति 'त्वद्विषोऽरण्यदृष्टे'रिति च  
 पदोपस्थापितपार्वतीराजादिविषयकरत्वादिकमुपकरोतीति उपकारकलक्षणमलङ्का-  
 रत्वं तेषां लक्ष्य गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने वक्ष्यते । शून्यं वासगृहमित्यादिश्लोके  
 छाकार्यमिति श्लोके च शृङ्गारः भावशयलता वा प्राधान्येन प्रतीयते न तु तदपेक्ष-  
 यापि श्लोकप्रतिपाद्यं प्रधानं किञ्चिदस्ति अतः स एव सर्वैरुपक्रियते नरवन्म्यमुप-  
 करोतीति सोऽलङ्कार्यः ।

म० २—रसलक्षणनिरूपणाय व्याख्यायेतामिमे कारिके—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेशाट्यकाव्ययोः ॥

विभाषा अनुभाषास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभाषाद्यैः स्थायीभाषो रसः स्मृतः ॥

उ० २—तन्नानादिसंसारसम्बन्धानुभूतनानाभावानां प्रत्यात्मसंस्काररूप-  
 तया स्थितिर्वर्तते सत्सु चैतेषु भावेषु कारणकलापसमवधाने तेषामुद्बोधो भवति ।  
 अत एव ते स्थायिन उच्यन्ते । यद्वा काव्य आप्रबन्धसमाप्ति अविच्छेदेनेतररस-  
 विरुद्धाऽविरुद्धभावैरतिरस्कृतत्वेन च वर्तमानतया ते तथोच्यन्ते । यदाहुः—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोघातुमर्हमाः ।

आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ॥

तेषाञ्च स्थायिनां यमालम्ब्योद्गमो भवति यैश्च ते उद्दीप्यन्ते ते लोके कारण-

पदव्यवहाराः काव्ये विभावयन्तीति व्युत्पत्त्याऽऽलम्बनोद्दीपनरूपा विभावा उच्यन्ते । तत्र नायिकादिरालम्बनविभावः । उद्यानादिकमुद्दीपनविभावः । तत्कार्यभूताश्चानुभावाः । अनुभावयन्ति स्वगतान् रत्यादीन् परात्मस्वापादयन्तीत्यनुभावाः । अथवा अनुभवरत्यादेः पश्चान्नवन्तीत्यनुभावाः । एतेन तेषां कार्यत्वमुक्तं भवति । व्यभिचारिणः सहकारिकारणानि । यदुक्तम्—‘विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः इति । विशेषाद्रत्यादेरुद्वेकात् नहि रस्युत्पत्तिमात्रेण चित्तोन्मादादीनामवसरः । आभिसुरयेनानुवृत्त्येन । एतैश्च विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैर्गन्त आस्वादयोग्यतामापादितो रत्यादी रसः । व्याख्यातमन्यत् ।

प्र० ३—काव्यप्रकाशोक्तस्वादप्रपञ्चस्तेनैवोक्तदिशा व्याख्याय तेषां हेयोपादेयते अपि सचिस्तरं प्रतिपादयत ।

उ० ३—अत्रेदं विवृण्वत इति । भट्टलोल्लटप्रभृतयः इति सम्बन्धः । ‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः’, इति भरतसूत्रे हेतौ पञ्चमी । हेतुत्वञ्च कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा । ज्ञापकत्वेऽपि तद्विषयकानुमितिजनकज्ञानविषयत्वं वा, तद्विषयकप्रत्यक्षजनकज्ञानविषयत्वं वा, तद्विषयकज्ञानजनकज्ञानविषयत्वं वा । तत्र कारकत्वमतानुयायिनो भट्टलोल्लटप्रभृतयः । तेषामयमाशयः ।

रत्यादयो हि न समवायेन नटे सामाजिके वा सम्भवन्ति । तदानीं तयोस्तदुत्पादकसामग्र्यभावात् । शिवाभ्यासादिमात्रेण रामादिरूपतां दर्शयतो नटस्य इत्युत्पादकसामग्र्या लेशोऽपि न शक्यते विस्तुम् । सामाजिकेऽपि सीतादिगतपूज्यत्वबुद्धेर्जागरूकतया प्रत्युत वैरस्यप्रसङ्गः । अतः सीतादिदर्शनेन तत्कार्यभूतेन भ्रूविस्त्रेपादिनाऽनुभावेन सहकारिणा चैस्तुल्यादिनाऽनुकार्ये रामाद्यावेव रतिरुपपद्यते । सैव चरति निरतिशयसुखास्वादरूपो रसो नाम । नटे तु न तस्य वास्तविकी स्थितिः । किन्तु तस्य तद्रूपेण रूपितत्वादत्यन्तं सदृशयोस्तयोर्भेदस्याप्रतीतेः सा भ्रमरूपैव । कथमन्यदीयसुखकारणैरन्यस्य रसोत्पत्तिः स्यादिति ।

ततश्च सूत्रे कारकहेतुत्वम् तन्मते विवक्षितम् । निष्पत्तिः उत्पत्तिः । एतदेवाह वृत्तौ विभावैरित्यादिना । तत्र वासनारूपतया सूक्ष्मतया वर्तमानान् रथायिनो रत्यादीन् विभावयन्ति आस्वादाङ्कुरयोग्यतां नयन्ति इति व्युत्पत्त्याऽऽल-

म्वनोदपनभेदेन द्विविधो ललनोद्यानादिविभाव । तथाविधास्ताननुभावयन्ति  
इत्यनुभावा वटाक्षादयः । प्रभृतिपदात्—

स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।

वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विका स्मृता ॥

इति सात्विकानां सङ्ग्रहः । तथाविधाश्च रयादीन् विशेषेण चारयतीति  
व्यभिचारिणो निर्वेदादयः । यदाहुः 'विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभि-  
चारिणः' इति ।

अत्राहुः । अनुकार्ये रामादौ रसोत्पत्त्यङ्गीकारे कथं सामाजिकेषु रसोद्बोधः ।  
कथञ्च तेषां नाट्यादौ प्रवृत्तिः । न च रामादिशृङ्गारदर्शनेनैव सामाजिकानां  
रसोद्बोधः इति यत्तु युक्तम् । लौकिकशृङ्गारादिवत्तस्य चमत्काराहेतुत्वात् । किञ्च  
रामादिगतरस्तरैव रसस्य रसस्यानन्दात्मकत्वात्तद्वत्क्रोधभीत्यादेरपि सुखस्य  
वाच्यम् । तच्चैतदनुभवविरुद्धम् । नहि लौकिकदुःखकारणं सुखोत्पत्ति-  
काचिदपि परिहरयते । अतो न पूर्वोक्तलक्षणो रसः । नापि सूत्रे कारकहेतुत्वमर्थ-  
किन्तु विभावादिभिरुत्तरूपं सयोगादनुमाप्यानुमापकभावसम्बन्धात् । रसस्य  
निष्पत्तिरनुमितिरिति सूत्रस्वार्थः इति श्रीशङ्करादीनां द्वितीय मतं तदाह  
'राम' इत्यादिना ।

अस्य ह्यर्थः । प्रथमं नटे लोकप्रतीतिभ्यो विलक्षणतया रामोऽयमिति प्रति-  
पद्यते । तथा गृहीते च तस्मिन्पक्षे भ्रूविक्षेपादिकार्यकारित्वेन हेतुना 'सीताविषय-  
करतिमान् भ्रूविक्षेपादिकारित्वात्' इति रतिमात्रं भूयो गृहीतव्याप्तिकैः सामाजि-  
कैरनुमीयते । ननु नटे भ्रूविक्षेपादीनां कृत्रिमत्वात् कथं तैरनुमितिरिति चेन्न ।  
अभ्यासपाठवदशनं रोमाञ्चोऽङ्गुष्ठादीनामभिनयाद्भूतं कृत्रिमैरपि भावना  
महिम्ना तथाऽप्रतीयमानैस्तैरालम्बनोद्दीपनकारणैः स्थायिनो रत्यादेरनुमानस्य  
सुवचरत्वात् । सैवानुमिति सामाजिकैः क्रियमाणा रसः । तत्र नटे रामोऽयमिति  
प्रतिपत्तेर्लोकस्य वैलक्षण्यं प्रदर्शयति । राम एवति । इदं तावत् निश्चयात्मक-  
ज्ञानम् । तत्र राम एवायमियथाऽयोग्यवच्छेदः । अयमेव राम इत्यग्रान्ययोग-  
व्यवच्छेदः सूचितः । मिथ्याज्ञानमाह्वयज्ञानम् । तच्च न रामोऽयमिरयौत्तर-  
कालिके पाथे रामोऽयमियनेनोक्तम् । पाथमालीनमिच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम् ।  
राम स्याद्रा न वाऽयमिति सप्रत्ययः । रामसदृशोऽयमिति सादृश्यधीः । एभ्यो

त्रिलक्षणा नटे रामोऽवमिति प्रतिपत्तिः । सा च नटे रामत्वबाधप्रहेऽपि रामसद-  
शाकारेण चित्रगतेऽश्वेऽथाकृतिमत्त्वेनाथ इति वदन्वतीति । दृष्टस्य ज्ञातेर्बाधे  
आकृतिप्रकारो बोधः । यथा पिष्टकमन्यो गावः क्रियन्तामियादौ जायाकृति-  
न्यक्तयः पदार्था इति तस्य पदार्थत्वाङ्गीकारात् । १५ १३८

अत्राहुर्महर्षिणादयम् । नटस्य हि नटत्वेन ज्ञाने तत्र सीताविषयक-  
रति-  
बाधिता, चित्रनुरगन्यायेन रामत्वेन गृहीतेऽपि राम सीताविषयकरतिमान् इत्य-  
नुमि-  
त्या सामानिकानां कथं रसोद्बोधः तत्र तेषामुदासीनत्वात् । स्वात्मनि रति-  
मत्त्वज्ञाने च सम्यानां ग्रीडातट्टादिप्रसङ्गः केन बाधेत । एवञ्च पक्षोऽप्रत्यक्षः । न  
च पक्षं विनाऽनुमितिर्बहुं शक्यते । अनुमित्यसम्भवे च कुतो रसास्वाकार्थिनां  
सामानिकानां तत्र प्रवृत्तिः स्यात् । किञ्च प्रत्यक्षमेव चमकारहेतुर्नानुमितिरीत्य-  
नुभवविरोधश्च । तथा सति कथं रसः साक्षात्करोमि इत्यनुम्यवसायः स्यात् ।  
तस्मात् पूर्वोक्तं सम्यक् । अपि तु विभावादिभिः सयोगाद्भोगभोगकभावरूपा  
द्रसस्य निष्पत्तिर्भोग इति सूत्रार्थः । ननु कथमन्यगतैर्विभावादिभिरन्यगत एव  
स्थायी अन्येन भोक्तव्य इति श्रुदानुवृत्तये तत्र वदाम—इदं खलु काव्यस्य  
शास्त्रात्मकस्य त्रयो व्यापाराः । अभिधा, भावकत्वं भोजकत्वं चेति । तत्राभिधा—  
तत्तत्पदार्थोपस्थितिप्रयोजिका । भावकश्च साधारणीकरणपरपर्यायिन् । तेन  
व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । अर्थात्कामिनीत्वादिसामा-  
न्येनोपस्थाप्यन्ते । ततश्च भावनायत्नेन स्वगतपरगताशब्दयोर्मोपावृत्तिरवमात्र-  
पुरस्कारेण बोधो भवति तैश्च साधारणीकृतविभावादिभिस्तथाकृत एव स्थायी  
भुज्यते । भोगश्चानन्दात्मको रसपदव्यवहार्यः । एवञ्च प्रत्यक्ष एव रसः । न च  
शब्दान्वयमप्यतिरेकानुविधायितया तत्र शाब्दत्वमपीति वाच्यम् । सङ्करप्रसङ्गात् ।  
शाब्दाद्यप्रत्यक्षयोर्दुर्गपदवस्थानात् ।

एतदेवाह—न तादृश्येनेति । तस्य उदासीनो नगो रामादिर्वा । नटगतत्वे  
बाधो, रामादिगतत्वे सम्यानामौदासीन्यम् । तृतीयमपि निरस्यति नात्मगते-  
नेति । रसो न प्रतीयते नानुमितिर्विषयीक्रियते तथा सति सामानिकानां ग्रीडा-  
तट्टादिप्रसङ्गात् । किञ्चानुमितिरपि न सम्भवतीति प्राक् प्रतिपादितम् । नोत्पद्यते  
विभावादीनामप्यस्तत्त्वात् । रसस्य च समूहालम्बनत्वात् । नाभिव्यज्यते न  
व्यञ्जनयोपस्थाप्यते । रसस्य पूर्वमसिद्धत्वात् । सिद्धस्येव तत्सम्भवादिनि भावः ।  
अपि तु काव्ये नाट्ये चभिधानो ( लक्ष्मणानोऽपि ) अन्धेन भावकत्वनाम्ना

साधारणीकरणेनालौकिकव्यापारेण भाव्यमान साधारणीक्रियमाण सत्त्वोद्वेकेति सत्त्वस्योद्वेकेण रजस्तमसी अभिमूयाविर्भावेन प्रकारयमानो य आनन्द- तदात्मिकैव सवित् ज्ञानम् तस्य विश्रान्तिर्वेदान्तरसम्पर्कशून्यतयाऽवस्थान सत्सतत्त्वेन स्वरूपेण भोगेन भोजकत्वव्यापारेणेति ।

अभिनवगुणपादादीना मते सर्वं भट्टनायकवदेव । विशेषस्तु 'दशमस्त्वमसी'- त्यादौ एकत्रैव शाब्दप्रत्यक्षयोर्दृष्टतया शाब्दान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यैव च शाब्द- त्वप्रयोजकत्वेन, तस्य च श्रव्ये वर्तमानतया अभिधादेश्च विरतत्वेन तत्र व्यङ्ग्य- त्वमपि । नापि तन्मते भावकत्वभोजक-वार्य व्यापारद्वय कल्प्यते प्रमाणाभावात् भुक्तेर्ज्ञानातिरिक्तत्वस्यानुभवविस्मृत्वात् । इति तदेतद्विवृण्वते लोके इति । प्रमदादिभिः प्रमदोद्यानकटाक्षोत्कण्ठादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणकार्यसहकारिभिः स्थायिनो रस्यावेरनुमानेऽभ्यासपाटववतां सामाजिकानामित्यभिमेणान्वयः । अत एव सवासनानामेव रसास्वादो नेतरेषामरसिकानामित्युक्तं भवति । यदाहुः—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादश्च भवेत्

निवासनास्तु रङ्गान्त काष्ठकुङ्कुमारमसत्रिभा । इति

काव्य उक्तरूपे नात्ये 'आङ्गिको धाचिकश्चैवमाहायं सात्त्विकस्तथा' इत्युक्तं चतुर्विधाभिनयात्मके इत्यकाव्ये तैरेव प्रमदादिभिरेव कारणत्वादिपरिहारेण लौकिककारणत्वकार्यत्वसहकारित्वव्यपदेशपरित्यागेन विभावनादिव्यापारवत्त्वात् आदिपदादनुभावसञ्चारिणी । ननु तथापि कथमन्यनिष्ठैर्विभावादिभिरन्यनिष्ठस्य स्थायिनोऽभिभ्यक्तिरित्यत आह—ममैवैते इत्यादिस्वगतत्त्वपरगतत्वाशयोर्मोपात् साधारण्येन प्रतीतैस्तै र्स्याय्यभिभ्यक्षौ बाधकाभावादिति भावः । अत एव च बीभत्सादिभ्यः सुखमेव सञ्जायत इत्यत्र न विरोधः । असाधारणोऽतैस्तै- चत्वात् । तत्कालविगलितेति—तत्काले रसास्वादकाले विगलितो- य परिमितप्रमातृभावः ममैवैते अहमेव रसास्यादयिता इत्येव रूपेणानु- भूयमानो यो व्यक्तिविशेषसम्बन्धः तद्वशेनोन्मिषितो वेदान्तरसम्पर्कशून्योऽपरि- मितभावो यस्य तेन प्रमात्रा सामानिकेन सकलसहृदयसवादमात्रा प्रमातृविशेष सम्बन्धित्वतस्समवेतत्वाग्रहुरूपेण साधारण्येन ( साधारणीकरणव्यापारेण ) स्थायी- चर्च्यते 'विभावादिजीवितादीर्घिरे'त्यनेन 'चर्चणायाः अनित्यत्वमुच्यते' 'उ- इव प्रविशन् इत्यादि रसस्तव शेषं स्पष्टम् ।

प्र० ४—काव्यप्रकाशकृदुक्तसप्रपञ्चनिष्कर्षतो रसस्वरूपं कथं निर्धारितं भवतीति सामान्यरूपेण सविस्तरं प्रतिपादयत ।

उ० ४—अथ रसस्वरूपमाह 'कारणान्यथ कार्याणीति कारिकाद्वयेन । स्थायिन स्थितिशीलस्य रत्यादिसंस्कारस्यति यावत् । रत्यादाना हि ज्ञानरूपत्वात् तृतीयचरण एव नाशात् स्थितिशीलत्वं न सम्भवति इति रत्याद्यनुभवजनितसंस्कार एव स्थायिपदेनोच्यते इति स्वशास्त्रसङ्केतः । यद्यपि संस्कारे कारणमनुभव एव तथाप्यत्र संस्कारोद्बोधे कारणनिति ज्ञेयम् । विशेषेण भावयन्ति संस्काररूपेण स्थित रत्यादिक रतित्वादिनाऽनुभवगोचरतामापादयन्ति इति विभावा नायिकादर्शनात्पूर्वं म्याघ्रदर्शनात् पूर्वं वा अनादी ससारे अनादीना जीवाना पूर्वपूर्वजन्मसु कदाचित्कदाचिद्वायिकाप्याग्रादिदर्शनजनितरतिभीत्या दिवंसंस्काराणा वर्तमानत्वेऽपि इदानीं नायिकादर्शनं विनाऽह रतिमान् इति म्याघ्रदर्शनं विनाऽह भीतिमानिति न वञ्चिदनुभवति । अतः विशेषाकारेण संस्कारमुत्पादयन्तो विभावा उच्यन्ते । तत्र समवायसम्यग्धेन रत्याद्युद्बोध प्रति यद्विषयक ज्ञान कारण स आलम्बनविभाव इत्युच्यते । समूहालम्बन ज्ञानमित्यादौ विषयस्यालम्बनपदेन प्रसिद्धे । उद्बुद्धस्य रत्यादेश्विरकालवृत्तित्व संपादक उद्दीपनविभाव इत्युच्यते । न हि नायिकादर्शनमात्रेणोद्बुद्धाऽपि रति पुण्यक्षेत्रे पर्यकाले वा चिर तिष्ठति अपि तु उपवनवसन्तादिष्वेव । अतस्त उद्दीपनविभावा उच्यन्ते । यद्यपि नायिकादर्शनेन संस्कारोद्बोधोत्तमं तन्निताऽपि रति-ज्ञानरवादेव तृतीयचरणे नश्यति तथापि तादृशरत्यादिपूर्वजनितज्ञानबाधरुविजातीयज्ञानानन्तरितपूर्वज्ञानसनातीयज्ञानपरम्पराधारोत्पादनमेवात्र चिरकाल-वृत्तित्वपदेन बोध्यम् । अनुभावास्तु अनु पश्चाद् भवन्तीति एव श्रुत्वा कार्यरूपा अनुभावयन्तीति श्रुत्वा 'कार्याकारण गम्यत' इति न्यायेन ते एव परात्मसमवेता रति परं प्रत्यक्षीकृतुंमयोग्यामनुमापयन्तीति अनुभावा । अभिचारिणस्तु अनियतत्वाद्गतौ सत्यामालम्बनविभावस्य नायिकादरिजोन्मादादेरनियतत्वाद्भ्यापका व्यभिचारिण इत्युच्यन्ते । अथवा रत्यादीना विशपादाधिक्या दामिमुख्येन धरन्ति रत्यानुकूल्येनैवोत्पद्यन्ते इति श्रुत्वा द्वयेन तयो-च्यन्ते । नहि सर्वदा रतौ सत्यामुन्मादो भवत्येवेति नियमः । आधिक्ये तु कदाचिद् भवत्यपि ते जायमाना अपि न रतिं विनाशयन्ति । अपि तु परि-पुण्यन्येवेति लोकसिद्धम् । तदेवाह—'सकृत्सूत्रवृत्त्या भावानामिति तै विभावाद्यै-

व्यक्तः व्यञ्जनाव्यापारेण प्रत्यायितः रत्यादिः रसपदवाच्यः । असंस्पृश्य-  
क्रमव्यङ्ग्ये क्रमस्य सत्तायां भरतसूत्रसम्प्रतिमाह—विभावानुभावेत्यादि । अत्र  
संयोगादिति हेतौ पञ्चम्या तस्य प्राग्वृत्तित्वं बोधितम् । तेन क्रमोऽस्ति । शैल्यास्तु  
न प्रतीयते इति भावः । अत्र सूत्रस्य व्याख्यानचतुष्टयम् । हेतौ पञ्चमी  
संयोगस्य कारकहेतुत्वमाह । तेन रसनिष्पत्तिरित्यस्य रसोत्पत्तिरित्यर्थः । अयं च  
कार्यत्ववादः भट्टलोहटादीनाम् । एतेषां मते अनुकार्ये रामादावेव रसः सीतो-  
पवनौसुखादिसंयोगस्य राम एव सम्भवात् । सामाजिकानामनुसदनुवारितदर्शनेन  
रसप्रतीतिः भ्रमात्मिकैव । एतन्मते रामसमवेताया रतेः सुखात्मकत्वमिव  
भीत्यादेर्दुःखात्मकत्वमपीति सर्वेषां रसानामानन्दात्मकत्वं न सिद्धयति । किञ्च  
विभावादीनां कारणत्वं हि न समवायिकारणत्वं ज्ञानात्मिकां रतिं प्रति रामस्यैव  
समवायित्वात् । नापि असमवायिकारणत्वं गुणक्रिययोरेवासमवायित्वाङ्गीकारात् ।  
आत्मविशेषगुणभूतायां रतौ असमवायिकारणासम्भवाच्च । अतः निमित्तकारण-  
त्वमेव वाच्यम् । तथा च तद्विशेषोऽपि रसः स्थितिं प्राप्नोति । न हि निमित्तकारणे  
दण्डादौ विनष्टे घटस्यापि नाशः । अत्र तु विभावादिजीयितावधित्वं वक्ष्यते ।  
किञ्च रामात्मनि समवेताया रतेरेव रसस्य सामाजिकानां तत्प्रत्यक्षासम्भवात्  
तदास्वादनाथं तेषां प्रवृत्तिरपि अनुपपन्ना स्यात् । नष्टारोपितरत्यादिप्रत्यक्षाय  
कोऽपि प्रयतते इति दृष्टम् । तस्माद्रसकार्यत्ववादो न युक्तः । अपि संयोगा-  
दिति ज्ञान्यत्वहेतौ पञ्चमी । तत्र ज्ञानत्वं तत्तन्मन्त्रज्ञानविषयत्वम् तत्तन्मन्त्रज्ञानमनु-  
मिति रिति श्रीशङ्करः । प्रत्यक्षात्मकमिति भट्टनाथकः । आद्यमते नर्तकगतो रसः  
अन्त्ये सामाजिकगतः । निष्पत्तिरित्यस्यानुमिति रिति आद्यमते । भुक्तिरिति  
चान्वेष्ट्यः । साक्षात्कार एव न भोगपदेनोच्यते सुखभोग इत्यादौ तथा दर्शनात् ।  
साक्षात्कारत्वेऽपि दशमस्यमसीत्यादौ प्रत्यक्षत्वादादित्ययोर्दर्शनात् । इन्द्रिय-  
निमित्तं एकस्मिन्नपि ज्ञाने दृष्टव्यप्रत्यक्षर-  
दोषानाधायकत्वाच्छाब्दत्वप्रत्यक्षत्वयोर्जातित्वानङ्गी-  
काराद्वा एकत्र ज्ञाने द्वयोः सत्त्वेऽपि न दोषः । अत्र हि सामाजिकानामा-  
त्मनः संयोगादिसामग्रयां सत्यामेव यथा रसप्रत्यक्षमेव 'शून्यं चासृष्टमि'त्या-  
दिश्लोकार्थज्ञाने सत्येव नान्यथा । अतः प्रत्यक्षकारणस्येव शब्दबोधकारण-  
स्यापि धन्यव्यतिरेकौ स्त एव । उत्र शब्देन रसप्रतीतौ जननीयायां न  
शब्दगतः धर्माध्यापारः । तस्या वाच्यार्थयोर्धनमात्रेणैव विरतायात् ।

विरम्य व्यापाराभावात् । नापि लक्षणा मुख्यार्थवाधाद्यभावात् । मीमांस-  
काभिमततात्पर्याख्यवृत्तिस्तु पदार्थयोः समर्गमात्रबोधनेनोपपत्तिना न रस-  
बोधोपयोगिनी । अतः व्यतिर्नाम व्यञ्जनाव्यापारोऽभिनवगुणपादादिभिराश्रितः ।  
एवञ्च उत्पत्तिः, अनुमितिः, भुक्तिः, व्यतिरिति क्रमेण चत्वारो वादाः । तत्रानु-  
मितिपक्षे पक्षतावच्छेदकरूपेण पक्षप्रत्यक्षे सत्येव तस्मिन्हेतुनिश्चयेन साध्यानु-  
मितिर्भवति । अतः पक्षप्रत्यक्षमुपपादयति—राम एवायमित्यादिना । अत्रैत-  
त्कालीने मते श्रेताकालोत्पन्नरामभेदस्य निश्चितत्वादयं नट रामान्यो नेति ज्ञानं  
न सम्भवति । नापि रामो नटान्यो नेति ज्ञानं, नाप्ययं रामो न वेति सहाया-  
त्मकं तथा सति पक्षतावच्छेदकरूपेण पक्षप्रत्यक्षाभावादननुमित्यभावप्रसङ्गात् ।  
नापि न रामोऽयमिति सत्यं भेदज्ञानं पूर्वोक्तदोषादेव । अतः एव न रामसदृशोऽ-  
यमिति ज्ञानम् । नहि पक्षसादर्यमात्रज्ञानेन अनुमितिर्हृष्टा । अपि तु रामश्च  
बाधग्रहे सति रामगतावयवसंस्थानदर्शनेनाकृतिप्रकारकं रामोऽयमिति ज्ञानं यथा  
चित्रतुरगे जातेर्बाधे आकृतिमात्रप्रकारिका प्रसीतिः । अतः एवाहुः—‘आत्माकृति-  
व्यक्तयः पदार्थाः’ इति । एतेन पक्षप्रत्यक्षमुपपादितम् । ‘संयममात्रे’त्यादिना ।  
तत्र हेतुप्रत्यक्षमुपपादयति । यद्यपि नट रत्यादिशून्योऽप्यभ्यासमात्रेण तथा  
तथा प्रदर्शयति एव केवलम् । तथापि सामाजिकास्तद्वृत्तान् हेतून् हृत्रिमत्वेन  
न जानन्ति । एवञ्च हृत्रिमत्वेनाशर्तं रत्यादिकार्यभूतं विनापहर्षवादादिभि-  
रनटानि रतिरनुमीयते । अनुमीयमाना रतिरेव रसः । यद्यपि नट रतिमनुमिनोमि  
इति सामाजिकानामनुगृह्यवसायो युक्तः, तथापि तस्या अनुमिते मुख्यविशेष-  
जनकत्वादन्यानुमितिर्बैलक्षण्येन रतिं साक्षात्करोमीत्येवानुगृह्यवसाय इति  
श्रीशङ्कुकमतम् ।

रसस्यानुमेयत्वपक्षे—‘नट सीताविषयकरतिमान्’ इत्यादि बाधज्ञाने सति न  
सम्भवति, सर्वे हि सामाजिका नट शिष्टाभ्यासादिमात्रेण यथा तथाऽनुकुर्वन्-  
नेयं जानन्ति न रतिमत्त्वादिना । किञ्च अन्यात्मगततरत्यनुमानेन सामाजिकानां  
कथनानन्दः । नहि प्रत्यक्षेण जायमानं फलमनुमानमात्रेण भवति । तथा सति  
मोदकभोजनाद्यनुमानेनापि वृत्त्यादिप्रसङ्गात् । अतः रसस्य प्रत्यक्षत्वमेव वाच्यम् ।  
तच्चेयं, काव्यस्य निरन्तरालोचनेन नाट्यस्य सन्ततदर्शनेन सामाजिकानां प्रथमं  
‘राम सीताविषयकरतिमान्’ इत्यादि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानमेव जायते ।



तस्यैव च निरन्तराभ्यासदशायां सीताविषयत्वरामसमवेतत्वांशप्रमोपो भवति । ज्ञानाभ्यासे हि द्विविधमपि सामर्थ्यमस्ति । पूर्वपूर्वज्ञानविषयेण सहोत्तरज्ञाने अधिकविषयत्वं यथा व्युत्पित्सुदशायां पूर्वमेकैकं पदार्थं मनसिकृत्य पश्चाद्द्वितीयादि-पदार्थैः सह तान् चिन्तयन् व्युत्पित्सुः क्रमेण महावाक्यार्थमपि एकक्षणे एव जानाति । पूर्वं विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञाने सत्यपि तदीयैकांशप्रमोपेण धर्मज्ञान-दशायामेकपदार्थमात्रम् । भूविद्येपकट्टाक्षकारित्वादित्यनुमानाकारो वाच्यः । स च भट्टो न रतिमान् जानाति । यथा कीटभ्रमरस्थले ब्रह्मसाक्षात्कारे वा प्रथम कीटो भ्रमरो मामागत्य दृश्यतीति आमञ्जलि क्रमेणैकैकांशप्रमोपे भ्रमर-मात्रविषयीकुर्वन् स्वयं भ्रमररूपो भवति तथैव ब्रह्मज्ञोऽपि । इत्थञ्च सीता-विषयकत्वांशप्रमोपे सति रतिस्त्वेन ज्ञायमाना रतिः स्वात्मनि संस्काररूपेण रतिं विषयीकरोत्येव । अयमेव साधारणीकरणात्मा व्यापारः इत्युच्यते । 'अहं सीता-विषयकरतिमानि'त्याकारकज्ञाने उच्यमाने सामाजिकानां प्रीडाऽऽतङ्कादि प्राप्नोति । 'रामः सीताविषयकरतिमान्' इति ज्ञाने तु परात्मसमवेतरत्वादीनाम-प्रत्यक्षतापातः । अत एवमुच्यते । एतादृशज्ञानोत्पत्तौ च सखोद्रेको निमित्तम् । ततश्च व्यक्तिविशेषवृत्तिस्त्वय्यक्तिविशेषसमवेतत्वांशप्रमोपवती रतिस्त्वेन ज्ञाय-माना सखोद्रेकजनिता रतिर्मातिर्वैत्येवंरूपा वृत्तिः सखाधिक्यस्वभावात् सुखमेव जनयति न भवादिकम् । पुत्रभरणादीनां राज्यलाभादीनां वा स्वात्मगतत्वेन प्रतिसन्धीयमानानामेव दुःखादिहेतुत्वं लोके प्रसिद्धम् अत आत्मसम्बन्धित्वेन ज्ञायमानानामेव तेषां शोकादिहेतुत्वं वाच्यम् । तच्चात्र नास्तीति न कोऽपि दोषः, अयमेव भुक्तिवादः ।

प्र० ५—व्याख्यायतां निम्नोद्धृतपदपङ्क्तिः सोदाहरणं स्पष्टीकृत्य-  
'यद्यपि विभावानामनुभावानामौत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां च  
व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिस्तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्य-  
तमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वम् ।'

उ० ५—अत्र ग्रन्थकृता त्रीणि पदान्युदाहृत्य केवलविभावात्मिका, केवला-  
नुभावात्मिका तथा केवलकृतिपयव्यभिचारिभावात्मिका स्थितिः सम्प्रदर्शिता ।  
केवलविभावात्मिका स्थितिरत्र 'वियदलिमलिन' पद्ये, केवलानुभावानामस्तित्वं

‘परिस्फुरितमृणाली’ इति पद्ये, तथौसुक्यवीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां व्यभिचारि-  
मात्राणां वर्तित्वं ‘दूरादुत्सुकमि’ति पद्ये प्रदर्शितमस्ति । तत्र आद्ये पद्ये ‘प्रणतिररे  
प्रेयसी’तिकामिनीगताया रतेरालम्बनविभावस्य ‘विषदम्बुगर्भमेधम्’ इति । मधुकर  
...दिशां श्रीः, धरणि.....टङ्क, इति उद्दीपनविभावानामेव केवलानां स्थितिः  
साक्षादुल्लिखिता वर्तते । तथा द्वितीये पद्येऽङ्गानां ग्लानत्वं, श्रियासु प्रवृत्तिजाड्यं  
तथा कपोलस्य पाण्डुतादिश्लेषानुभवानामेवोद्बोधः, तथा च तृतीये पद्ये ‘दूरादुत्सु-  
के’त्यादिविशेषणैः क्रमेण व्यञ्जितानानौत्सुक्यलज्जाहर्षकोपासूयाप्रसादानां व्यभिचा-  
रिमात्राणामुद्बोधः । यद्यपि प्रसादस्य व्यभिचारिभावेऽपि गणना न दृश्यते तथापि  
मनःप्रसादस्य हर्षादरपयायतया व्यभिचारिषु योज्यः । तृतीयोदाहरणे यद्यपि  
प्रेयसीति आलम्बनविभावस्य निर्देशसत्त्वात् तथापि तस्य रतिधर्मानुकूलत्वेन  
निर्देशासत्त्वादनस्तिभायो ज्ञेयम् । विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव तैः  
स्थायिभावो रसः स्मृतः इत्युक्तं प्राक् तर्हि कथमत्र रसस्योत्पत्तिरिति चेन्नैवम् ।  
पूर्वोक्तेषु त्रिष्वपि पद्येषु विभावानामेव केवलानाम् प्रथमे, अनुभावमात्राणां  
द्वितीये, व्यभिचारिमात्राणां च तृतीये असाधारणत्वसत्त्वेऽपि द्वयमन्यदपि तथाऽऽ-  
क्षिप्यते एव । असाधारणत्वं नाम मुख्यत्वं, सदित्याख्यापकत्वम् अथ प्राकरणिक-  
नियतावस्थितिकत्वं वा ज्ञेयम् । अनैकान्तिकत्वं, व्यभिचारित्वम् । तद्रसनिरूप-  
यितुं नैव अनैकान्तिकत्वं नेति नानैकान्तिकत्वम् । अत्राप्यं भावः । रसस्य समूहा-  
लम्बनरूपत्वादेकैकस्मादसाधारणादपि रसव्यवस्थाभावात् मिलितानामेव त्रयाणां  
व्यञ्जकत्वम् । अतोऽसाधारणेनापीतरद्वयमाक्षिप्यत इति मिलितैस्तद्व्यभिचारि-  
रिति नानैकान्तिकत्वम् ।

प्र० ६—‘शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साद्भुतसंज्ञौ  
चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः’ इति कारिकोक्तरीत्या प्रतिरसं स्थायि-  
भावस्य विभावादीनाञ्च स्पष्टतया निर्देशः कार्यः । ‘शान्तोऽपि नयमो  
रसः’ इत्यस्याप्यत्र समावेशः कार्यः ।

उ० ६—अत्र ‘स्थायिभावो रसः स्मृतः’ इति निर्देशात् शृङ्गारस्य रतिरेव  
स्थायी । कान्ताद्यालम्बनविभावः । घञ्चन्दनाद्युद्दीपनविभावः । कटाक्षतनु-  
भावः । मीमांसितचारितः शृङ्गारः इत्यं कोष्ठरूपेणात्र प्रदर्शयते—

| रस      | स्थायिभाव     | मालम्बन वि०    | वृदीपन वि०  | अनुभावा       | सञ्चारिभावा    |
|---------|---------------|----------------|-------------|---------------|----------------|
| शृङ्गार | रति           | का वादि        | सक्चन्दनादि | कटाक्षादय     | ब्रीडातङ्कादय  |
| हास्य   | हास           | विकृतिकृ       | वैकृतादि    | गल्लफुल्लनादि | धमादि          |
| करुण    | शोक           | मृतादि         | मृतगुणादि   | रोदनादि       | दैव्यादय       |
| रौद्र   | क्रोध         | दिषद्          | दिषदपकार    | विकथनादि      | गर्वादय        |
| वीर     | उत्साह        | दिषद्विद्वज्जन | अपकारादि    | प्रतिकारादय   | इषाविगचित्रादय |
| भयानक   | भयम्          | विकटादि        | विकटकर्मादि | पलायनादि      | जडतादय         |
| बीभत्स  | जुगुप्सा      | विष्मूत्रादि   | दुग्धादि    | निष्ठीवनादि   | रक्षान्यादय    |
| अद्भुत  | विस्मय        | विस्मयजनक      | विस्मयकम    | चकिततादि      | इषादय          |
| शान्त   | निर्वेद शमोभा | कमवर्ता        | तपोवनादि    | अहिहाराद्यो   | मतिधृति        |
|         |               | मिथ्यात्वेन    |             | समदर्शनम्     | इषादय          |
|         |               | परिभायमान      |             |               |                |
|         |               | जगत्           |             |               |                |

प्र० ७—पूर्वोक्तनवरसानां लक्षणोदाहरणानि विलिख्योदाहरणेषु तेषु विभावादीनां स्थायिभावपूर्यकं सुविशदनिर्देश कार्य ।

उ० ५—शृङ्गारादीना लक्षण च रत्यादिप्रकृतिकत्वम् । तत्र 'मनोऽनुकूले त्वय्येषु सुखसवेदन रति ।' तत्प्रकृतिको रस शृङ्गार । तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्र 'अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यौ विलासिनौ । दर्शन स्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वित ।' शृङ्गारशब्दस्य भ्युपतिस्तावत्— 'शृङ्ग हि मन्मथोन्नेदस्तदागमनहेतुक । पुरपप्रमदाभूमि शृङ्गार इति गीयते' इत्युक्तदिशा स्मरकरम्भितान्त करणयो स्त्रीपुंसयो परस्पर रिरसा रति तत्प्रकृतिकत्वं शृङ्गारस्येति बोध्यम् । सम्भोग लज्जाद्यैर्निषिद्धान्यपीडदर्शनादीनि यत्र कामिनौ सम्भुजाते स सम्भोग । 'भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति । परिच्छति चामीष्ट विप्रलम्भस्तदोच्यते ।' विप्रलम्भ सम्भोगसुखास्वादलोभेन प्रलभ्यते आत्मा यत्र स विप्रलम्भ । अपरिच्छेद्य परिच्छेत्तुमेतावदेवे कर्तुमशक्य । तत्राद्य सम्भोग परस्परवलोकनाडिहनाधरपानपरि बुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गम्यते । एक एवेति—विप्रलम्भभिन्नत्वे सति सयोगत्वसामान्यरूपत्वे सति रतिप्रकृतिकत्वं सम्भोगत्वमित्येक एव ।

नायिकारब्धत्वेन नायगरब्धत्वेन च सम्भोगस्य द्वैविध्यम् । तत्राद्यमाह—  
'शून्यं वासगृहं' इति पद्येन । अत्र च नायक आलम्बनम् । शून्यगृहनायक-  
निद्रादि उद्दीपनम् । मुरनिर्वर्जनक्षुब्धनादि अनुभाव । लज्जा हास्यद्वन्द्वहर्षादि  
व्यभिचारिभाव । रति स्थायिभाव । तज्ज्ञे सामानिके नायकनिष्ठस्यैव  
रसस्य निष्पत्ति । आलोक्येति लज्जया समानकर्तृकम् ।

द्वितीय सम्भोगमुदाहरति—'त्व मुग्धाङ्गि' इति पद्यम् । अत्र मुग्धाङ्गी  
आलम्बनम् । नयनसौन्दर्याङ्गशोभादि उद्दीपनम् । आभाषणवीटिकास्पर्शानु-  
भावा उल्कण्ठद्वयो व्यभिचारिण । रति स्थायिभाव । तज्ज्ञे सामानिके  
नायिकानिष्ठरतिविषयकरसनिष्पत्ति ।

अपरो विप्रलम्भ । अभिलाष-विरह-व्या-प्रवास-शापहेतुक इति पद्य  
विधे । अभिलाषाऽप्राप्तसमागमयो परस्परप्राप्ताच्छा, विरहोऽननुरागाद्भवन्नि-  
बन्धाह्वजादिषशाब्दामयोग, मानकारणमीर्ष्या, प्रवासो विभिन्नदेशस्थिति, शाप  
पुतावकालपर्यन्तं तव सयोगो मारिचनि सिद्धपुष्टस्वाग्विशेष । पुताहेतूना-  
श्रिय जायमान । तत्राभिलाषाहेतुकमाह—'प्रेमाद्रा प्रणयस्पृष्टा ०' इति पद्यम् ।  
अत्र मालती आलम्बनम् । तद्विद्यासानुस्मरणमुद्दीपनम् आससाऽनुभाव । तद्वद्वयो  
लक्षणा व्यभिचारिभाव । रति स्थायिभाव । विरहहेतुकमाह—'अन्यत्र भव  
तीति का ०' इति पद्यम् । कृतसङ्केतनायकस्य रात्रावनागमने विरहोत्कण्ठिताया  
वितर्कवर्गनमिदम् । अत्र नागतपतिरालम्बनम् । अनागतनादिरुद्दीपनम् । विरक्त  
नादिरनुभाव । हृदहेति सूचितो विस्मयो व्यभिचारिभाव । रति स्थायिभाव ।

ईर्ष्याहेतुकमाह—'सा पत्यु प्रथमापराध ०' इति पद्यम् । स्वप्रेयस्या नव  
वाया दुःखमसहमाना काचिन् काञ्चित्प्रयाह—तत्र पतिरालम्बनम् अपराध  
उद्दीपनम् । रोदनाद्यनुभाव । तद्वद्वयाऽसूया व्यभिचारिभाव । रति स्थायि  
भाव । प्रवासहेतुकमाह—'प्रस्थान चल्यै कृत ०' इति पद्यम् । अत्र प्रियतम  
आलम्बनम् । तद्वयाणमुद्दीपनम् । कार्श्यद्वयोऽनुभाव । चिन्ता व्यभिचारि-  
भाव । रति स्थायिभाव । शापहेतुकमाह—'वामालिस्य प्रणयकृपिता ०' इति  
पद्यम् । मेघदूते प्रियासुदिश्य मेघ प्रति यत्तस्योक्ति । अत्र नायिका आलम्ब-  
नम् । तद्वयाणमुद्दीपनम् । चरणपातेच्छादिरनुभाव । कृतान्तेऽसूया  
व्यभिचारिणी । रति स्थायिभाव ।

न्यङ्गमीडादिभिश्चेतोऽविकासो हास उच्यते । न्यङ्गं वैकृतम् । तेन हासप्रकृ-  
तिको हास्यः । यथा—‘आकुम्भ्य पाणिमशुचि०’ इति पद्यम् । अत्र ताड्यमानो  
त्रिपुस्तमां आलम्बनम् । तत्पन्दनमुदीपनम् । रसाश्रयस्यैतद्वाक्यमनुभावः ।  
चापलादिष्वभिचारीति । हासः स्यादिभावः ।

‘दृष्टनादादिभिश्चेतोऽवैकृत्यं शोकशब्दभाक्’ । आदिग्रहणादनिष्ठातेः ।  
शोकप्रकृतिकः करणः । यथा—‘हा मातस्वरितासि०’ इति पद्यम् । राज-  
पक्षीमरणं तत्परिजनविलापोत्तिरियम् । अत्र नायिका आलम्बनम् । विपद्वा  
काचिदीश्वरी सम्बोध्या । तद्वाद्युदीपनम् । रोदनमनुभावः । मूर्च्छाद्वयो  
ष्यभिचारिण । शोकः स्यादिभावः । शोकप्रकृतिकः करणो रसः सामाजिके  
ष्यज्यते ।

प्रतिहृल्लेषु तैक्षण्यस्य प्रबोधः क्रोध उच्यते । तत्प्रकृतिको रौद्रः । यथा—  
‘कृतमनुमतं दष्टं०’ इति पद्यम् । द्रोणवधमुद्रस्याश्वत्थामोऽर्जुनादीग्रत्युक्तिः ।  
अप्रापकारिणोऽर्जुनादयः आलम्बनम् । अप्राद्युषमनमुदीपनम् । प्रतिज्ञाऽनु-  
भावः । अन्यनैरपेक्ष्यगम्यो गर्वो ष्यभिचारी । क्रोधः स्यादिभावः । क्रोध-  
प्रकृतिको रौद्रो रसः सामाजिके ष्यज्यते ।

वीररसमुदाहरति यथा—‘शुद्धाः सन्त्रासमेते०’ इति पद्यम् । कार्याग्नेषु  
संरम्भे स्थेमानुत्साह उच्यते । उत्साहप्रकृतिको वीरः । स च त्रिधा—युद्धवीरो,  
दानवीरो, दयावीरश्च । अत्र पूर्वोक्तोदाहरणं युद्धवीरस्य । हनुमच्छाटके मेघनाव-  
स्थोत्तिरियम् । अत्र राम आलम्बनम् । तत्समुद्रबन्धनमुदीपनम् । शुद्धेष्टपेक्षा  
पराक्रमशालिनि रामे स्पर्धा चानुभावी । देवावतकुम्भचूर्णनस्मृतिः लज्जां दधतीति  
गम्यगर्वश्च ष्यभिचारिणी । उत्साहः स्यादिभावः तज्ज्ञे सामाजिके उत्साह-  
प्रकृतिको वीररसो व्यज्यते । अपरावूहनीयौ ।

‘रौद्रशक्त्या ■ जनितं चित्तवैकृत्यदं भयम्’, तत्प्रकृतिको भयानकः । यथा—  
‘न भय०’ इति पद्यम् । मृगानुसारिणो दुष्यन्तस्योत्तिरियम् अत्र पञ्चा-  
स्यन्दनो राजा आलम्बनम् । दारपतनं चोदीपनम् । प्रीवाभद्रादयोऽनु-  
भावः । भ्रमादयो ष्यभिचारिण । भयं च स्यादिभावः । तज्ज्ञे सामाजिके  
प्रकृतिको भयानको रसो व्यज्यते ।

जुगुप्सा गर्हणार्थानां दोषमाहात्म्यदर्शनात् । तत्प्रकृतिको बीभत्सः । समु-

दाहरति—‘उत्कृत्योत्कृत्य कृत्ति०’ इति पद्येन । स्पष्टुट निम्नविषयम् । स्फिचि  
कल्मूले, पृष्ठपिण्डीम् जङ्घोर्ध्वमङ्गम् । जङ्घा मङ्गयिजा । करङ्ग प्रेतशरीरम्  
प्रेतमस्तक वा । क्रयमनक्रमासम् । अत्र शब्द आलम्बनम् । मासाशनमुद्दी-  
पनम् । नासाकुञ्चनादयोऽनुभावा । उद्देगादयो व्यभिचारिभावा । जुगुप्सा  
स्थापिभाव । जुगुप्साजनितो वीभत्सो रसस्तज्ज्ञे सामाजिके व्यज्यते ।

‘विस्मयश्चित्तविस्तारो यस्तुमाहाग्यदर्शनात् ।’ तत्पट्टितिकोऽद्भुत । यथा—  
‘चित्र महानेप कृतावतार ०’ इति पद्यम् । वामन प्रति बलेहकिरियम् । अत्र  
वामन आलम्बनम् । कान्त्यतिशयाद्युद्दीपनम् । स्तवादयोऽनुभावा । छति-  
हर्षादयो व्यभिचारिण । विस्मय स्थापिभाव । विस्मयजनितोऽद्भुतो रसेऽभिज्ञे  
सामाजिके व्यज्यते ।

‘निर्वेदस्थापिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस ।’ तत्पट्टितिकवात् । यथा—  
‘अहौ वा हारे वा’ इति पद्यम् । करमीरदेशस्थस्य श्रीमदुत्पलराजस्य पद्यमिदम् ।  
अत्र मिथ्यात्वेन परिभूयमान जगद्दालम्बनम् । तपोवनाद्युद्दीपनम् । अहिहाराद्यो  
समदर्शनमनुभाव । मतिश्रुतिहर्षा व्यभिचारिभावा । निर्वेद स्थापिभाव ।  
तज्ज्ञे सामाजिके शान्तरसनिष्पत्तिर्गर्ज्यते ।

अत्र वदन्ति—शान्तो नाम रसस्तावदनुभवसिद्धतया दुरपह्व । न चास्य  
स्थापि निर्वेदो युज्यते । तस्य विषयेष्वलप्रययरूपत्वाद्वात्माननरूपत्वाद्वा ।  
शान्तैश्च मिलितविषयपरिहारजनितान्मविभ्रमानन्दप्रादुर्भावनयत्नानुभावात् ।  
तदुक्तं ‘यच्च कामसुख लोके यच्च दिव्य महत्सुखम् । तृप्ताद्यसुखस्यैते नाहंत  
पोढर्शा कलाम्’ इति । अत एव सर्ववृत्तिविरामोऽस्य स्थायीति निरस्तम् ।  
तस्माच्छ्रमोऽस्य स्थायी । निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिण । स च ‘शमो निरीहाव-  
स्थापमानन्द स्वात्मविभ्रमाद्’ इति ।

पुनो स्थापिभावानाह—‘रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ मयन्तथा ।  
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थापिभावा प्रकीर्तिता’ इति । स्थानिलचणमाह—‘विरुद्धा  
अविरुद्धा वा य तिरोघातुमक्षमा । आनन्दाङ्कुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीति  
सञ्चित’ इति सामान्यलक्षणम् । अवस्थितिश्रैया सक्स्त्रन्यायेन, फेनबुद्बुद-  
न्यायेन तु व्यभिचारिणामित्यनयोर्भेद । विरेपलक्षणानुत्थानि ।

प्र० ८—व्यभिचारिभावान् नामतो विलिख्य तेषां लक्षणान्यपि प्रदर्शयत ।

उ० ८—निर्वेदं ग्लानि-शङ्काख्या स्तथाऽमूया-मैद-ध्रमाः । धालैस्मं चैव  
दैर्न्यं च चिन्ता-मोहः-स्मृति-धृतिः ॥ वीर्या-चर्पलता-हृष-आ-वेगो-जडता  
तथा । गवो-विपा-द-औत्सुक्यं-निद्रा-ऽपस्मोर एव च ॥ स्व-मो-वि-बोधो-  
मैप-श्वाप्यवहित्थ-अथोग्रतौ । मतिर्याधि-स्तथोन्माद-स्तथा मरुणमेव च ॥  
त्रासश्चैव-वितर्पश्च-विज्ञेया व्यभिचारिणः । अयस्त्रिंशदमी भाषाः समाख्यातास्तु  
नामतः ॥ नामत एव समाख्याता न तु लक्षणतः । तल्लक्षणानि यथा—

तत्त्वज्ञानापदीप्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् । (तत्त्वज्ञानं-नित्यानित्यवस्तुविवेकं)  
तत्र चिन्ताश्रुति-श्वासवैषम्योऽप्युत्पत्तिनाः । (स्वावमाननम्-आत्मनि तुल्यवस्तुनि-)

चित्तस्य खेदो निर्वेदस्तत्त्वज्ञानोदयादिभिरिति केचित् ॥ १ ॥

रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा ।

ग्लानिर्निष्माणता कम्पकार्यानुत्साहिताविकृत् ॥ २ ॥

अनर्थप्रतिमा शङ्का परकीर्यास्त्वदुर्नयात् ।

वैषम्यकम्पवैमुख्यपार्श्वलोकास्यशोषकृत् ॥ ३ ॥

परोक्षपाऽक्षमाऽसूया गर्वदीर्जन्यमन्युजा । दोषोदोषभूषिभेदावभ्राक्षोपेक्षितादयः ॥

सम्मोहानन्दसम्भेदः स्तलदङ्गवचोयतिः । मधुपानादिजो ज्ञेयो मदी विविधभावकृत् ॥

उत्तमसत्त्वः प्रहसति गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः ।

परपवचनाभिधायी ज्ञेते रोदित्यधमसत्त्वः ॥ ५ ॥

खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रम् । श्रमग्लान्योर्विभेदं तु अग्रे कारणकार्यता ॥

श्रमस्यातिशयावस्थामथवा ग्लानिमूर्च्छिरे ।

बलस्यापचयो ग्लानिराधिन्याधिप्रकर्षभूः ॥ इत्येके ॥ ६ ॥

धालस्यं श्रमगर्मादेर्जैह्वं जृम्भक्रियादिकृत् ॥ ७ ॥

दीर्गत्यादेरनोजः स्यादैर्न्यं कार्यामृजादिमत् ॥ ८ ॥

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

प्रयत्नपूर्विकान्वेष्यस्मृतिश्चिन्तैति केचन ॥ ९ ॥

मोहो विचिन्ता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः । (विचिन्ता चित्तेन ज्ञानाजननम्)

धूर्णनाज्ञानपतनश्रमणादर्शनादिकृत् ॥ १० ॥

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भूतसुखमनादिकृत् । स्मृति पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ ११ ॥

अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्ती स्पृहापर्याप्तता धृतिः । ( स्पृहापर्याप्तता इच्छानिवृत्ति )

सौहित्यवदगोह्याससहासवचना ( प्रतिभा ) विकृत् ॥ १२ ॥

सङ्कोचश्चेतसो ग्रीडा वैषण्याधोमुत्तविकृत् । यद्वा

दुराचारादिभिर्ग्रीडा धाष्टर्याभावोऽभिधीयते । वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शभूरेखाधोमुत्तादिकृत् ॥

( धाष्टर्याभाव चेतसः सङ्कोच )

चेतोनिमीलनग्रीडा न्यङ्गरागस्तवादिभिः । ( इतिकेचित् ॥ १३ ॥ न्यङ्ग वैकृत विकार )

भास्वर्यद्वेपरागादध्यापत्तं त्वनवस्थितिः । ( अनवस्थिति, अविमुक्तकारिता )

'नामप्रकाशनपरा चेष्टा चपलसौच्यते' इति केचित् ।

तत्र भास्वनपाहयस्वच्छन्दोदधरणादयः ॥ १४ ॥

मनःप्रसादो हर्षः स्यादिष्टावाप्तिस्तवादिभिः । यद्वा

मनःप्रसादो लाभादेर्हर्षोऽभ्युत्थेदगद्गदा ॥ १५ ॥

'अनर्थातिशयाच्चेतस्याघेगः सम्भ्रमो मतः' ( यद्वा

आघेगो रागविद्रावरसादेः सम्भ्रमो मतः ।

तत्र विस्मरणस्तम्भस्तेदं कम्पः स्थलकृतिः ॥ १६ ॥

क्रियास्वपादवजाड्यं चिन्तोऽकण्ठाभयादिभिः ।

आलस्यं तु क्रियाद्वेषो न त्वनेति भिदा ततः ॥ यद्वा

'अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।

अनिमित्तपयननिरीक्षणतूष्णीभावादयस्तत्र' ॥ १७ ॥

गर्भोऽभिजनलावण्यधनैश्वर्यादिभिर्भेदः ।

सविलासाङ्गवीक्षाऽविनयावशादिकृत् सः ॥ यद्वा

गर्वो मदप्रभावग्रीविद्यासङ्कुलनन्मभिः । अवज्ञा सविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥

प्रारब्धकार्यासिद्धादेर्विषादः सत्त्वसत्त्वयः । ( सत्त्वसत्त्वय उसाहनाश )

निश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादयः ॥ १९ ॥

औत्सुक्यं वाञ्छितप्राप्तौ कालचेपासहिष्णुता ।

चित्ततापत्वरस्वेददीर्घनिश्चसितादिकृत् ॥ यद्वा

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्यच्छादितिसम्भ्रमैः ।

तत्रोच्छ्वासवराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥ २० ॥



निद्रा व्यापारवैमुरयमिन्द्रियाणां श्रमादिभिः ।

तत्र जृम्भाङ्गमङ्गादिमीलनोच्छ्वसितादयः ॥ २१ ॥

( इन्द्रियाणामित्युपलक्षणम्, तेन मनसोऽपि । तेन स्वप्नाज्ञेदः । )

आधेक्षात्यन्तदुःखादेरपस्मारस्तथाविधः ।

‘मनः सपस्त्वपस्मारो ग्रहावेदादिसम्भवः’ इति केचित् ॥

( बीभत्समयानकयोरेव )

कचित्तु ‘अपस्मार’स्थाने चिस्मृतिः पठिता तथा-

विरोधिभावात्पूर्णस्य प्रस्मृतिर्विरस्मृतिर्भवेत् ।

ध्यानजालूपप्रमोहाऽऽधिपरितापादिरुक्तुः सा ॥ (प्रगता स्मृतिः प्रस्मृतिः)

स्यमो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः । (विषयानुभवः स्वप्नाज्ञानम्)

कोपाधेगभयश्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥ २३ ॥

निद्रापामहेतुभ्यः प्रयोधश्चेतनागमः । जृम्भाङ्गमङ्गवयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥

‘कोप एव स्थिरतरो ह्यमर्ष इति कथ्यते । यद्वा

अधिषेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता । ( अभिनिविष्टता स्थिरक्रोधः )

तत्र स्वेदशिरः कम्पनेत्ररागाङ्गविक्रिया ॥ २५ ॥

लज्जाघैर्विक्रियागोपोऽवहित्याऽऽमन्यविक्रिया ।

व्यापारान्तरसङ्घिः यवदनानमनादयः ॥ २६ ॥ ( अवहित्याऽऽकारगुतिः )

अधिषेपापमानादेश्चित्तचण्डालमुग्रता । यद्वा

द्विष्टेऽपराधदौर्मुख्यचौर्यक्षण्डवमुग्रता ॥ ( चण्डालः साहकारतदसहिष्णुत्वम् )

अत्र स्वेदशिरः कम्पताडनातर्जनादयः ॥ २७ ॥

शास्त्रोपदेशमन्त्राघैरर्थनिर्धारणमिति । यद्वा

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ॥

स्मेरता एतिसन्तोषौ बहुमानस्तथात्मनि ॥ २८ ॥

विरहोद्वेगमनस्तापो व्याधिदुःस्याङ्गतादिकृत् । यद्वा

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ।

प्रस्वेदकम्पतापाद्या अनुभावतयोदिता ॥ २९ ॥

सन्निपातग्रहादिभ्यः उन्मादश्चित्तविभ्रमः । यद्वा

उरकण्ठादृपसोकादेरुन्मादश्चित्तविप्लवः ।

( चित्तविप्लवः चित्तविभ्रमः । आसितमवस्थानम् )

तस्मिन्स्यानेरदितगीतहासाऽऽवितादय ॥ ३० ॥

जीवस्योद्गमनारम्भो मरणं परिकीर्तितम् ।

सम्भोहेन्द्रियसङ्गानिगात्रविचेपणादिकृत् ॥ यद्वा

रोगाद्यैः प्रागवस्था तु मरणस्य मृतिर्मता ॥ ३१ ॥

( मुख्यमरणस्यालम्बनोच्छेदेन भाववाधानाद् । मूर्च्छाऽत्र मरणमित्यन्वे न  
 चान्यत्र सञ्चारित्वाङ्गुन फलवदिति वाच्यम् ॥ स्याद्यन्तरसाधरणात् । तेष्वपि  
 हि छन्न सञ्चारिणः सदुक्तम्—

शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे श्लेषस्तथा मत् ।

शान्ते गुण्यमा नयिता ध्वनिचारितया पुन ।

इत्याद्यन्यत् समुपेय स्वयं भावितबुद्धिभिः । इति ॥ )

गजितादेर्मनः शोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः । यद्वा

शौरपातिकैर्मनः शोभस्त्रासः कम्पादिकारकः । (नौत्पातिकैरपातजन्यैः गर्जितादिभिः)

पूर्वापरविचारोत्थं भयं प्राप्तात् वृथगमयेत् ॥ ३२ ॥

उहो वितर्कं सन्देहे भूतिरोऽङ्गुलिनसंकं ।

( तर्को 'विचारः सन्देहे' इतिपाठे विचारो विमर्शः ।

तथा च प्राहुः रसगङ्गाधरकाराः 'सन्देहाद्यनन्तरं

जायमानः उहो वितर्कः' इति । स च निम्नपानुकूलः )

प्र० ९—अथ 'भावस्य' किं लक्षणम् । सोदाहरणं सप्रपञ्चः स  
 प्रतिपाद्यताम् ।

उ० ९—'रसभावतदाभासः' इति सूत्रे भावोऽप्यलक्ष्यक्रमेषु पठितः ।  
 स किंरूपः, इति चेत् 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः । भावः प्रेक्षा'  
 इति । नादिशब्दान्मुनिगुरुरपुत्रादिविषयाः । कान्ताविषया तु व्यक्ता शृङ्गारः ।

रत्यादीनां रसरूपत्वात्, व्यभिचारिणा रसाद्भूतानियमेन प्राधान्याभावात्,  
 सात्त्विकानामव्यङ्ग्यत्वादित्यतः क्रमप्राप्तः भावः लक्षयति—'रतिरिति' । रतिरिति  
 सकलस्यापि भावोपलक्षणम् । देवादिविषयेत्यपि अप्राप्तरसावस्थेऽपलक्षणम् ।  
 तथा शब्दश्चार्थः । तेन देवादिविषया सर्वप्रकारा तथा कान्तादिविषयाऽपि  
 अपुष्टा रतिः हासादयश्च अप्राप्तरसावस्था विमावादिभिः प्राधान्येनाञ्जितो व्यञ्जितो

व्यभिचारी च भाव्य प्रोक्त भावपदाभिधेय कथित, इति सूत्रार्थः । यदुक्तम्—  
 'रत्यादिश्चेन्निरङ्ग स्याद्देवादिविषयोऽथवा । अन्याङ्गभावमागवा स्यान्न तदा रथापि  
 शब्दभाक्' इति । तदेतदाह वृत्तिकार—'कान्तादिविषयास्तु व्यक्ता शृङ्गार । तत्र  
 देवविषया रतिर्यथा—'कण्ठकोणमिनिविष्ट०' इति पद्यम् । श्रीमदुपलब्धार्थप्रणीत  
 परमेश्वरस्तोत्रादौ पद्यमिदम् । अत्र महादेव आलम्बनम् । ईशपदप्रतिपाद्या  
 व्याहृतैश्चर्यमुद्दीपनम् । स्तवोऽनुभाव । छतिमाहात्म्यस्मरणादयो व्यभिचारिण ।  
 अत्रैतैरनुमितस्तावकरत्नीनां सामाजिकानां तैरेव विभावादिभिर्व्यञ्जिता रतिर्भाव  
 एवेति बोध्यम् । मुनिविषया यथा—'हरस्य च सम्प्रति हेतुरेव्यत ०' इति पद्यम् ।  
 अत्र श्रीकृष्णस्य मुनिविषयायां रतेर्मुनिरालम्बनम् । दर्शनयोग्यताव्यञ्जनमुद्दीप  
 नम् । श्रीकृष्णस्यैव मुक्तिरेवानुभाव । तद्वद्भवहर्षश्च व्यभिचारी । मुनिविषयक-  
 श्रीकृष्णरतिज्ञे सामाजिके भावनिष्पत्तिः । एवमेव गुरुविषया, नृपविषया, पुत्र  
 विषया च रतिरुदाहरणेषु टीकायां दत्तेष्ववलोकनीयानि ।

कान्तादिविषयाऽपुष्टा रतिर्यथा—कुमारसम्भवे 'हरस्तु किञ्चिदपरिलुप्तधैर्यश्चन्द्रो-  
 दयारम्भ इवान्धुराक्षि । उमामुखे विम्वफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि'  
 प्रधानतया वर्णित व्यभिचारिणमुदाहरति—'जाने कोपराक्षपुखी०' इति पद्यम् ।  
 विधुक्तस्य कस्यचित् स्वमित्र प्रत्युक्तिरियम् । अत्र विधि प्रति असूया प्राधान्येन  
 प्रतीयते । जाने शठेत्यनेन निर्णोतापकारि वेनासूयाप्रकर्षः । विधिरत्रालम्बनम् ।  
 विधिदौर्जन्यमुद्दीपनम् । शठत्वोक्तिरनुभाव । प्राधान्येन व्यञ्जितोऽसूयारूपो व्य-  
 भिचारी भावपदाभिधेयः ।

ननु नायिकालम्बनस्य तत्कोपोद्दीपितस्य स्वमादिदृष्टयनुभाधितस्य विप्र  
 लम्भस्य सत्त्वात्तद्वन्नित्वमेव स्यादत आह—'असूयेति' शठपदगम्या प्राधान्येन  
 प्रतीयते इति । पर्यन्ते तु रसस्यैव प्राधान्यम् । मध्यमव्यङ्ग्यमादायैव ध्वनि-  
 त्वादिव्यवस्थितेरिति बोध्यम् । नन्वत्र शठेन विधिनेतिवत् 'त्वामालिख्य प्रणय  
 कुपिता०' इति पद्ये क्रूरपदेनासूया प्राधान्येन व्यञ्ज्यते इति तत्रापि भावध्वनित्व-  
 मेव । तत्कथं विप्रलम्भोदाहरणमिति चेन्न । तत्र 'दृष्टिरालुप्यते मे' इत्यन्तेन  
 विप्रलम्भावगमेऽनन्तरं प्रतीयमानाया असूयाया विप्रलम्भाङ्गवस्यैवौचित्यात् ।

प्र० १०—रसाभासभावाभासयोरपि स्वरूपं सोदाहरणं विलिखत ।

उ० १०—‘तदामासा अनौचित्यप्रवर्तिताः’ इति सूत्रांशेनानौचित्येन प्रवर्तिताः तदाभासा रसामासा भावाभासाश्चेति तान् लक्षयति । तत्रदेन रसभावयोः परामर्शः न तु संनिहितत्वेन भावस्यैवेत्याह—‘रसामासा भावाभासाश्चेति ।’ अनौचित्यं हि शास्त्रलेकानि क्रमात् प्रतिपिद्विषयकत्वादिरूपं सामाजिकसंवेद्यम् । तच्च सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम् यत्र तेषामनुचितमिति धीः । तच्च श्रद्धारे बहुविषयत्वेन उपनायकादिगन्त्वेन नायकनायिकान्यतरनात्रविषयत्वेन, गुह्यजनगन्त्वेन, नानैव । तदुक्तम्—‘उपनायकमस्यायां मुनिगुरुपञ्च गतायां च । बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभवनिष्ठायाम् ॥ आभासं वञ्चयितुं तथैव च निर्यागादिविषयतायाम्’ इति । तथा हि गुर्वाद्यालम्बनतया हासस्य, शीतरागाद्यध्वयतया करुणस्य, पित्राद्यालम्बनतया रौद्रवीरयोः, वीरगतत्वेन मयानकस्य, यक्षीयपशुवसाद्यालम्बनतया वीरमस्य, ऐन्द्रजाटिकाद्यालम्बनतयाऽद्भुतस्य, चण्डालादिगतत्वेन शास्यस्य आभासत्वं ज्ञेयम् । अत्र रसाभासो यथा—‘स्तुमः कं वानाचि०’ इति पद्यम् । अत्र बहुषु व्यापारोपादानेन बहुविषया रतिर्भव्यते । न चात्र व्यापारस्य बहुविषयत्वमपिद्वम् । एकत्र हि नाट्यव्यापारसम्भवात् । यत्तु’ अनेककर्मरूपोपादानमनेकविषयत्वं क्रियानां प्रकटयति । एकविषयवाभिप्राये त्वेकमेव कर्मरूपमुपादृशेतेति तत्तुच्छम् । स्तुमो विष्णो इत्यादीनां भिन्नवाक्यानामेकविभवत्यन्तपदोपस्थापितेनानन्वये तदन्वयिनेऽभिप्रायानि कं क इत्यादिपदैरस्यापने भिन्नकर्मरूपद्वैतौपस्थापनादङ्गात् । अत्र दूतः—‘तु’ शब्देन व्यवच्छेदार्थेन व्यापारस्यानेकविषयत्वं लभ्यते । एवमेकत्र भेदाभिप्रायेऽवगनेऽन्यत्रापि तथैवावगम्यते, बहुपदमनेकपर वा ।

भावभासो यथा—‘राजासुषाकरमुगी०’ इति पद्यम् । सीतासुरिरय राज्ञोक्तिरियम् । ‘अत्र रतेर्व्यभिचारिभूता चिन्ताऽनौचित्यप्रवर्तिता । नादिकादा अननुरक्ततया स्तेरनुकृष्टेन तद्व्यभिचारिभेदेति तथा’वात् । एवमन्येऽप्युदाहर्याः ।

प्र० ११—‘व्याख्यायतां भावस्य शान्तिरुदयः सन्नि शक्यतया तथा’ इति ।

उ० ११—‘भावशान्त्यादिरुदन’ इत्यत्र भावशान्त्यादिरुदनविषयमाह—

‘भावस्य शान्तिरित्यादिना । सन्धिरेककालमेव तुल्यकचयोरस्वाद् । न च काव्यभेदेन निरन्तरतया पूर्वपूर्वापमर्दिनाम् । न च भावस्य शबलत्वं शान्त्युदयाभ्यामविशेषः । शान्तेरुदयस्य वा पुनैकस्यास्वादे तद्वेदद्वयेऽप्यनङ्गम् । एव शान्त्युदयावुत्पत्तिकालावच्छिन्नावेव चमकारिण्यविति बोध्यम् । स्थानि त्वेते न सम्भवन्ति तेषां सन्ततमनिरुद्धत्वात् । तत्र भावस्य शान्तिर्यथा ‘तस्य साग्रविशेषः’ इति पद्यम् । अमरस्तत्रैव खण्डितायां स्वनायिकायां कोटि-  
तच्छान्तिवृत्तान्तं वयस्य प्रति कथयतो हृदयान्तरशोधिरियम् । अत्र कोटस्य भावस्य शान्तावेव चमकारविधायम् । न तु विद्यमानेऽपि प्रत्यादेदने तदनु भावाद्यनुल्लेखविति वाच्यम् । तदेवाह—‘कोपस्येति शान्तिरिति शेषः ।

भावस्योदयो यथा—‘पुनस्तिन्नुत्पद्यते विपद्यः’ इति पद्यम् । अमरस्तत्रैव पद्यमिदम् । अत्र सुरतविपन्नस्योत्पद्यस्योदयश्चमकारोति न तु सन्धिरेककाल-  
शान्तिरिति तदनुभावाद्युपादानात् । तदेवाह—‘अत्रोत्पद्यस्येति’ उदय इति शेषः । भावस्य सन्धिर्यथा ‘उत्पद्यस्य तप पराक्रमः’ इति पद्यम् महात्मा चरितनाटके द्वितीयेऽङ्के सीतानाञ्छित श्रीरामस्य परशुरामागमने उक्तिरियम् । अत्र सुगन्धियादरणीयत्वज्ञानजन्यत्वरविशेषः पूर्वार्थगम्यः । हर्षस्तुत्तरार्थगम्यः । अनयोस्तुल्यकालमेवास्वाद् इति तयो ( आवेगहर्षयो ) मिथ्यरूपः सन्धिः । अत्र परिरम्भहर्षेण सम्पन्नप्रियतोत्साहोभयहर्षत्वादावेगस्तुल्य इति बोध्यम् । तदेवाह—‘अत्रावेगहर्षयोरिति । सन्धिरिति शेषः । आवेगस्त्वरविशेषः । भाव-  
शबलता यथा—‘छाकार्यं शशलक्ष्मण’ इति पद्यम् । विक्रान्तोर्वशीये वसुपेऽङ्के उर्वशी दृष्ट्वा पुररथम् उक्तिरियम् । अत्र ‘छाकार्यं’ मित्यादौ विक्रान्तं, मूढोऽपि स्यौ सुवन्द्य, दोषागामिति मतिः, कोपेऽपि सति, किं वृत्तन्तीति दृष्ट्वा, स्वप्नेऽपि त्रिदैव्य, चेतसि स्वास्थ्यमिति एति, क्व खल्विति चिन्ता, स्फुटपूर्वपूर्व-  
पमर्दनं प्रत्यायमाना शबलता चमकारमूढि । ननु भावस्य शान्तादिवस्थिति-  
रपि प्रकारः सम्भवत्येव, तत्कथं नोक्तं इति चेन्न । आवेगस्यैव तदुक्तेः । भावत्पित्तभावादिनित्यात् । ननु व्यभिचारस्थले नियमतो मुरयस्य रसस्याव-  
स्थानं तत्कथं भावोदाहरणमेतत्, कथं वा भावजनित्वं, रसाद्रेन तेषां गुण-  
भावादिद्यत आह—‘मुख्ये रसेऽपि तेषां रसं प्राप्नुवन्ति कदाचन’ इति । ते भावस्योदाहरण-  
कदाचन यदा त एवास्ति त्वेन विवक्षन्ते, रसानुगन्धिवाद-

प्रवृत्तनृत्यवत् । भावशान्त्यादय भावाश्च शान्त्यादयश्चेति द्वन्द्व । भावस्थिति  
शान्त्यादयश्चेति पाठ सुगम ।

प्र० १२—‘अनुस्वानामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु य  
शब्दार्थोभयशक्त्युत्पत्तिश्चैव स कथितो ध्वनिः ।’

कारिकामिमां सम्यग्याप्याय तत्रनिर्दिष्टसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य  
त्रैविध्यं तत्स्वरूपप्रपञ्चोदाहरणपुर सरं प्रतिपादयत ।

उ० १२—अनुस्वानेति । वग्राया हन्यमानाया मुख्यशब्दानन्तर चोदीया  
नपरोऽनुरणनरूप शब्द प्रतीयते तद्वत्सल्यक्रमा व्यङ्ग्यस्थितिर्यत्र स शब्दश्च  
र्थश्चेति शब्दार्थौ च उभय चेति तेषा शक्तिश्च शब्दार्थोभयशक्तिः, तस्या उभय  
तत उत्तिष्ठतीति शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव त्रिधा त्रिप्रकारको ध्वनिरित्यर्थः । तथा  
च शब्दशक्तिमूलव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलव्यङ्ग्य उभयशक्तिमूलव्यङ्ग्यपञ्चेऽप्यर्थः ।

शब्दशक्तिमूलव्य चैतदेव एतेनैव शब्देन तदर्थप्रतीतिरिति न तु पर्यायान्तरे  
णापि । एतद्वैपरीत्य चार्थशक्तिमूलव्य न स्वभिधया तत्प्रतीतिरिति । एतेन  
‘अभिधाय यत्र न नियमन तत्रैव भेदो दृश्यः । तन्निमित्तमेव तु नाभिधामूलव्य  
किन्तु व्यञ्जनमूलत्वमेव ‘अत्रात्मनः’ इति वदन्नेवेति’ति यत्कनचिदुक्तं तच्चादेयम् ।  
‘अत्रात्मनः’ इत्यादेरपि एतद्वेदत्वेनेष्टत्वात् । अन्यथा तस्य सर्वभेदबहिर्भावापत्तेः ।  
किञ्च शब्दशक्तिमूलव्यङ्ग्योदाहरणेषु । उल्लास्येति, तिग्मरचिरिति, अमिन  
इति त्रिष्वप्युदाहरणेषु क्रमेण प्राकरगिकाप्राकरगिकयोरिति व्याख्यानेन, भवानि  
त्यनेन तथा च अभीत्यनेन प्रकरणस्याभिधानियामकस्य स्पष्टवात्तेयामुदाहरणाव  
विरुद्धयेत तस्माद्यथोक्तमेव न्याय्यम् ।

तेषु मध्ये शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यो द्विधा । यथा—‘अलङ्कारोऽथ  
यस्यैव शब्दाद्यप्राधमासते । प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दसंस्तुतवो द्विधा’ इति ।  
कालङ्कारध्वनिर्वस्तुध्वनिश्चेति द्विप्रकारकः । अलङ्कृतस्यानलङ्कृतवस्तुमात्रस्य वा  
प्राधान्येन प्रकाशान् । प्राधान्येनेत्यनेन शब्दस्य यत्र प्राधान्यमर्थस्यापि  
साचिन्त्यमयवा प्राधान्येनेत्यनेन गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरास ध्वनिरित्यर्थः ।

तत्र शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनिमुदाहरति—उल्लास्येत्यनेन । कालकरवाल-  
महाभुवाहम्—कालो वैरिमहर्त्ता यः करवालः स एव महद्भुधाराजः वहतीति  
महाभुवाहः तम् । यद्वा महः उत्तमः स एवाभुः तद्वाहः, उरटोर्नितगन्धनेन—

जरठं कटोरम् उर्जितं बलवत् । गर्जितं सिंहनादो यस्य तथाविधेन । अप्राकरणिक-  
 ( व्यङ्ग्य ) पक्षे येन देवेन मेघाधिपतिना ( प्राकरणिके देवो राजा ) इन्द्रेण जरठं  
 गम्भीरम् उर्जितं यद्गर्जितं गर्जनं तेनोपलक्षितम् । कालकर कृष्णरश्मिं वर्पतुं काल-  
 सूचकं बालं ( बालं ) नवीनम् ( वययोरभेदात् ) महाम्बुबाहं मेघमुल्लास्य प्रकाश्य  
 रणे अद्वारादिषु जले पात्यमाने जायमानः शब्दो रणः ( प्राकरणिके युद्धभूमौ )  
 तस्मिन् सति धाराजलैः धाराकृतिमिजलैः त्रिभुवने रिपूणामर्थात् जलशत्रूणां  
 तेजसा सरलः प्ररूपः तापः औष्ण्यं निर्वापितः समितः इत्यर्थः । अत्र प्रकरणेन  
 प्रथमार्थे ( राजार्थे ) अभिधाया नियन्त्रणात् तथा बोधयितुमशक्यो  
 वस्तुरूपो द्वितीयार्थो ( इन्द्रविषयः ) व्यङ्ग्य एव । अत्र 'करवालमुल्लास्यै' ताव-  
 न्मात्रे वक्तव्ये यदेतादृशशब्दप्रयोगस्तस्यासम्बद्धार्यकता सा प्रसज्यतामित्यप्राकर-  
 निकैरिन्द्रवारिवाहादिभिः प्राकरणिकानां राजकरवालादीनामुपमानोपमेयभावे  
 कवितात्पर्यमिष्ट्युपमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः । स च शब्दशक्तिमूलः । पर्यायान्तरेण  
 भूपादिना तदर्थोपरिस्थितौ तदप्रतीतेः । एवमग्रेऽप्युक्तम् । यथा 'तिग्मरश्चिरप्र-  
 तापः' इत्यत्र तिग्मः रश्चिरश्च प्रतापो यस्येति प्राकरणिकार्थः । तिग्मरश्चिः ।  
 अत्रतापः इति एव क्रमेण त्रिषु अनिशाकृत्, मधुः अलीलः, मतिमान् अतएव-  
 वृत्तिरिति एकैकपदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासो व्यङ्ग्यः । अत्रोदाहरणे पदभेदेन  
 विरोधाभासो द्योतितः । पदाभेदेऽपि विरोधाभासो यथा—'अमितः समितः'  
 इत्यत्र । अत्र विचार्यते किं विरोधस्य तत्र व्यङ्ग्यत्वमेव, नेत्युच्यते । अपि-  
 दाब्दादेर्विरोधव्यञ्जनस्य भावे सति वाच्यत्वम्, तदभावे व्यङ्ग्यत्वम् इति । अधुना  
 व्यतिरेकालङ्कारभ्रान्तिरुदाह्रियते यथा 'निरपादानसम्भारे'ति । अत्र चित्रं नाना-  
 कारमालेख्यं च कला चन्द्रस्य षोडशो भागः । अन्यत्र कौशलञ्च अत्रोपादानैः  
 तूलिकाद्युपकरणैः भित्तावेव चित्रपदादिष्वेनालेख्यकारिभ्यः कलावद्भयो जगच्चित्रं  
 नानाकारम् अभित्तावेव शून्ये एव तन्वतः शूलिनो व्यतिरेको व्यङ्ग्यः । अत्र  
 चित्रबलाशब्दयोः परिवृत्त्यसहस्येन शब्दशक्तिमूलता ।

अथ 'वृत्तिगतवाक्यमलङ्कार्यस्यापि धातुप्रमणन्यायेनालङ्कारता' इति व्या-  
 ख्याति । ननुदाहृतेषूपमादीनां प्राधान्यं न वा प्राधान्यं चेत् कुतस्तेषामलङ्कार-  
 त्वम् । अन्यानलङ्कारजात् । अप्राधान्ये तुनेऽस्य काव्यस्य ध्वनित्वम् । व्यङ्ग्यवशा-  
 न्माभ्यन्तपात् । इति चेन्नैवम् । पूर्वमयमलङ्कार आसीदित्येतादृशताऽलङ्कारव्यप-

देशात् । यथेदानीं श्रमणः बौद्धसंन्यासी पूर्वं ब्राह्मण आसीत् इति स ब्राह्मण इति कथ्यते तथा । न चेन्न व्यपदेशसमर्थनेऽप्यलङ्कारध्वनित्वं न समर्थितमिति चेन्न । अलङ्कारपदेन तद्योग्यताया विवक्षितत्वात् । नचैवं रसादिध्वनावपि अलङ्कारध्वनि-  
त्वप्रसंगः संलक्ष्यक्रमस्यैव तादृशस्य तथाभिप्रेतत्वात् । वस्तुतस्तु प्राधान्याप्राधान्ये  
व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षयैव, न तु रसापेक्षयापि । तदपेक्षया सर्वत्र गुणीभावात् ।  
तथा चोपमादीनां रसाद्वत्तयाऽऽलङ्कारत्वम्, वाच्यापेक्षया प्राधान्यं चेति न दोष-  
लेशावकाशः ।

एवं शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनिमुदाहरत्याधुना शब्दशक्तिमूलवस्तुरूपध्वनि-  
मुदाहरति, यथा—‘पंथिभ’ इति ।

पथिक मात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ॥

उन्नतपयोधरं प्रेषय यदि वससि तदा वस—इति छाया ।

स्रस्तरम्—(१) कटाधारस्तरणम् ; (२) शास्त्रम् कामशास्त्रमिति वा ।

प्रस्तरस्थले—(१) पापाणप्रचुरे स्थले, (२) पापाणानां तत्त्वेनाभ्यवसितानां  
मूर्खानां स्थले सम्मये ग्रामे ।

अत्र शास्त्राभावादाकारेद्वित्तज्ञानधिरुणे ग्रामे, सति चैवविधे उद्दीपने मेधे  
श्लेषमर्यादया उन्नतस्तनदर्शने च को नाम उपभोगक्षमोऽन्यत्र गन्तुमर्हतीति  
व्यव्यभिचाराद्यो व्यञ्जनया प्रकाशते इत्यर्थः । तच्च पयोधरेति शब्दशक्तिमूलमेव ।  
तथा—‘शनिरशनिरिति । अशनिरिव । न शनिः । अनुदार — अनुगता द्वाराः  
यस्य । न उदारः इति । अत्र प्रथमार्धे शनिरशनिक्षेपनेन विरुद्धावपि त्वदनु-  
वर्तनार्धमेककार्यं कुतः’ इति वस्तु ध्वन्यते । न तु विरोधालङ्कार । शनिरशनि-  
रित्यनयो, सामान्याधिकरण्यमात्रात् । विरोधस्य तत्रैव विश्रान्तेः । द्वितीयार्धे  
तु नोदाहरणम् । तत्र ‘च’ शब्दस्य अप्यर्थत्वे विरोधस्य वाच्यत्वात् । समुच्चय-  
मात्रार्थत्वे विरोधस्यैव व्यङ्ग्यत्वादिति ।

इत्थं शब्दशक्तिमूलं द्विविधं ध्वनिं निरूप्येदानीमर्थशक्तिमूलानुरणनरूप-  
व्यङ्ग्यं द्वादशविधत्वेन विभजते । तथाच कारिकाद्वयम्—

अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः ॥

प्रौढोक्तिमात्रास्तिद्वौ वा कवेस्तेनोन्मितस्य वा ।



वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति पदभेदोऽस्मी व्यनक्ति यत् ॥

वस्तुलङ्कारमयत्रा तनाय द्वादशानङ्क ।

वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति । ( १ ) स्वतः सम्भवी, न केवलं अङ्गितिनिष्पन्नसरीरोऽपि नु बहिरपि आचित्येन प्रतीयमानः सम्भाव्यमानः । ( २ ) प्रौढानिमात्रसिद्धः बहिरन्वयपि वस्तुप्रतिमानात्रेण तथा निर्मितः, ( ३ ) कविनिबद्धेन वक्त्रा तथा निर्मित इति त्रिधा । अपमर्षः । व्यञ्जकोऽर्थविधा । ( १ ) स्वतः सम्भवी ( २ ) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धः, ( ३ ) कविनिबद्धनायकादिवस्तुप्रौढोक्तिमात्रसिद्धश्चेति । अत्र प्रौढोक्तिः चमाकारानुगुणोक्तिर्ज्ञेया । एव त्रिविधोऽपि प्रत्येक वस्तुमात्रमलङ्कृतिर्वेति पदविधौ व्यञ्जकः । एतेषां पञ्चा व्यङ्ग्यमपि प्रत्येक वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति द्वादशभेदा भवन्ति ।

तत्र स्वतः सम्भविन्यर्थं भेदचतुष्टये । ( १ ) वस्तुना वस्तुनो व्यक्तियथा—अलसशिरोमणीत्यत्र । इदं पदं प्राकृतं, तस्य च्छाया—‘अलसशिरोमणिधूर्तानामग्रिमं पुत्रि धनसमृद्धिमयः । इति भगितेन नताङ्गी प्रकुलविलोचना जाता ।’ अथा लसत्वेन प्रवासे नायिकान्तरगृहं च गन्तुमनिच्छन्, धूर्तत्वेन रतेष्वनाहतगुणो, धनसमृद्धिमयतया कृपण सुखी चेति निर्धार्य यत्प्रकुलनयनं च हर्षमञ्जकं वस्तु तेनान्याभ्यामनाकर्षणीय इति, ममैवोपभोग्य इति वस्तु व्यन्यते ( २ ) वस्तुनाऽलङ्कारस्य व्यक्तियथा—‘धन्याऽसि वा कथयसी’ति उदाहरणम् । रनिकालीन स्वप्निसालाप कथितवर्ती काञ्चिदुपहसन्त्या चमिदानीं स्वरतिवासां कथयति सखीप्रेरिताया उक्तिरियम् । अत्र वाच्येन सखीं प्रति धन्य-वैक्तिरूपेण वस्तुना स्वस्य महानन्दासिसूचनद्वारा ‘त्वमधन्येति व्यतिरेकालङ्कारो व्यन्यते । ( ३ ) अलङ्कारेण वस्तुना व्यक्तियथा—‘दर्पान्धगन्धगण’ इत्युदाहरणम् । अत्र ‘दर्पान्धगन्धगणकुम्भरुपाटकूटसकान्तिनिग्नधनशोणितशोणिशोचि’ इति पदस्यैव विग्रह—दर्पेण मदैनान्ध मदोद्विक्तं यो गन्धगणः, तस्य कुम्भयो गण्डस्थलयो कपाट विशालतया दुर्भेद्यत्वात्कपाटमिव मध्यमागं तस्य कूटमग्रभागं तदेव कटिनत्वात् कूटलोहमुद्गर इव तत्र सज्जान्त्या सम्बन्धेन ( पतनेन ) सम्यक् प्रविशनेन वा निग्न इदमन्वद्वधनं निविडं यत् शोणितं रश्मिर तेन शोणं रक्तं शोचि कान्तियस्य यत्र वा तादृश इत्यर्थः । अत्र ‘कालीकटाक्ष इव कृपाणो व्यलेकि’ इत्युपमा, न पुनरप्येका सम्भावनाविरहात् । शोणशोचि-कपायकान्त्योर्विग्नप्रति

विम्बभावेन समानधर्मत्वात् सा च स्वतःसम्भविनी, सादृश्यस्य लोकेऽपि सत्त्वात्  
तया चोपमया 'सकलरिपुक्षयः क्षणात्करिष्यते' इति वस्तु व्यज्यते । ( ४ ) अल-  
ङ्कारेणालङ्कारस्य व्यतिर्यया—'गाढकान्तदशने'त्युदाहरणे । अत्र ओष्ठविषयकयो-  
र्दशनमोचनयोर्विरोधः । यो हि निजमप्यधरं दशति स कथं परेषामधरान्मो-  
चयतीति स्वतःसम्भविना विरोधामासालङ्कारेण प्रकृतयोः स्वाधरदशनशनु-  
ष्यापादनयोरेककालरूपैकधर्मसम्बन्धेन तुल्ययोगितालङ्कारो व्यज्यते । एवं  
मम राज्ञो दन्तवत्या अन्यस्यापि नृपवृद्धजनस्यापि क्षतिर्निवर्ततामिति नृपवृद्धि-  
रन्वेषयते इत्युपमेयालङ्कारोऽपि व्यज्यते । एषु चतुषुदाहरणेषु व्यञ्जकोऽर्थः,  
स्वतः सम्भवी इति ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धे व्यञ्जकेऽर्थं भेदचतुष्टयं । वस्तुना वस्तुनो व्यतिर्यया  
'कैलासस्य प्रथमशिल्लरे' त्युदाहरणम् । व्यञ्ज्यं दर्शयति—अत्र कविप्रतिभामात्र-  
निष्पन्नाद् यशसि श्रवणप्रवेशाद् त्रिनिनोसम्भावनाया कर्णे हस्तावर्तनरूपेण  
कविप्रतिभामात्रनिष्पन्नेन वस्तुना देवा जडानामपि दिग्गजानामर्थाधिगम-  
गीतार्थज्ञानं नास्ति तेषामध्येन श्रैयभूर्तत्वादिबुद्धिजननेन स्वकीतिश्रमकरोतीति  
वस्तुमात्रं व्यज्यते । अत्र च कीर्तिश्रवणानन्तर कर्णे हस्तावर्तनं हस्तिनो न स्वतः-  
सम्भवि किन्तु कविसम्प्रदायात् कविना वगितमिति कविप्रौढोक्तिसिद्धत्वम् ।  
२ कविप्रौढोक्तिमात्रमिद्वेन वस्तुनालङ्कारस्य यथा—'केमेषु बलामेडिये' त्यादि  
प्राकृतश्लोकः । तस्य द्वाया—केमेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयग्रीवगृहीता । यथा  
कन्दराभिर्विजुरास्तस्य दृढं कण्ठे सस्थापिता इति । तेन पराजिताः शत्रवो गुहास्वेव  
तिष्ठन्तीति भावः । अत्र कन्दराभि कण्ठे स्थापिता इत्येवंरूपेण कविप्रतिभामात्र-  
मिद्वेन वस्तुना केशप्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विजुरान् कण्ठे  
गृह्णन्ति इत्युपमेया । एकत्रैव सङ्ग्रामे विजयदर्शनासंस्थारयः पलाय्य गुहासु  
तिष्ठन्ति इति काव्यलिङ्गम्, न पलाय्य गतास्तद्विरिणोऽपि तु ततः परामथ-  
सम्भाव्य ता कन्दरा एव न तास्त्यजन्ति इति अपहृतिश्च अलङ्कारो व्यज्यन्ते ।  
३ कविप्रौढोक्तिमात्रमिद्वेनालङ्कारेण वस्तुनो व्यक्तिमुदाहरति यथा—'गाढालिङ्गणम्'  
इत्यादि । द्वाया 'गाढालिङ्गणरमसोद्यते दयिते लघु सम्पसरति । मनस्विन्या  
मानः पीडनभीत इव हृदयात्' इति । अत्र पीडनभीररिवेत्युपमेयालङ्कारेण  
प्रत्यालिङ्गनादि जृम्भते इति वस्तु व्यज्यते । ४ अत्रैवालङ्कारेणालङ्कारस्य यथा—  
'जा ठेरं व हसन्ती' इति प्राकृतपद्यम् । अस्य द्वाया—

या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरहवद्विनिवेशा ।

दर्शयति सुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥

अत्र 'जा ठेरं व हसन्ती' व्युपेक्षालङ्कारेण चमत्कारैककारण नव नव जगत् अम्बुजासना ( जडजलामिति ढलयेरभेदात् ) कविवदनस्था (अजडासना) निमिमीते इति वाण्या ब्रह्मणो व्यतिरेक प्रकाशयते । यद्युपेक्षा विनापि व्यतिरेकोऽयं प्रकाशते नियतिवृत्तनियमेत्यादिवत् तथापि न स्पृष्टो भवतीति । यद्वा तावन्मात्रस्य व्यञ्जकत्वेऽपि उपेक्षाव्यञ्जकत्वं न विहन्यते इति । यद्वृत्तौ चमत्कारैककारण नव नव जगत् अजडासनस्था इत्युक्तं तत्र स्थविरमिव हसन्तीत्यनेन चमत्कारैककारणत्वाशलाभः । अन्यदिवेत्युपेक्षया नवनवत्वलाभः । कविवदनेत्यादिना अजडासनस्थेत्यशलाभः । एषु पूर्वोक्तचतुर्षुदाहरणेषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

एवं कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नमेदधतुष्टयमुदाहृत्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धव्यञ्जकार्थस्य ध्वनेश्चतुर्षु भेदेषु मध्येऽप्युना वस्तुना वस्तु व्यज्यते—यथा 'जे लङ्कागिरिमेहलासु' इति प्राकृतपद्यमुदाहृतम् । तस्य छाया—ये लङ्कागिरिमेहलासु स्खलिता सम्भोगखिन्नोरगी स्फारोःकुल्लफणावनीकबलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् । त इदानीं मलयानिला विरहिणीनि श्वाससम्पर्किणो जाता इदिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तादृश्यपूर्णो हव ॥ इति ॥ ये जाता लङ्कागिरिर्हेमकूटस्य नितम्बेषु सर्पप्राप्ता स्खलिता सम्भोगेन धान्ताना सर्पिणीना वितता ऊर्ध्वप्रसृता या फगापङ्क्ति तथा कवलने भक्षणे सति चीणव प्राप्ता ( स्वल्पाप्रतिष्ठा ) इदानीं विरहिणीनि श्वात्सैरीपःसम्बद्धा ध्रुव प्राप्ताश्चर्या शीघ्रमेव शिशुत्वेऽपि तारूप्येन पुष्टावयवा इव जाता इत्यर्थः । अत्र वस्तुना वाच्यार्थरूपेण 'नि श्वात्सै प्राप्ताश्चर्या वायव किं किं न कुर्वन्ति' इति वस्तु व्यज्यते । २ वस्तुनाऽलङ्कारस्य व्यक्तियथा—'सहिविरहज्ज' इति प्राकृतपद्यमुदाहरणम् । छाया—सखि विरचरय मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् । प्रियदर्शनविष्टलक्षणे सहसेति तेनापसृतम् इति । निमित्तिमानस्यक्तवतीति वदन्तीं सखीं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । धैर्येण मम मानस्याश्वासनं कृत्वा प्रियदर्शनक्षणे सहसाऽपसृतम् इति वाच्येन वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रियप्रार्थने सा प्रसन्ना इति कारणमावेऽपि कार्योत्पत्तिरूपविभावनाऽलङ्कारः । 'ननु प्रियदर्शनसौभाग्यलक्षणेण सोढुं न शक्येत इति चेत्प्रेक्षालङ्कारश्च व्यजेत ।

३ अत्रैवालङ्कारेण वस्तु व्यज्यते यथा 'ओल्लोलकर०' इति प्राकृत पद्यमुदाहरणम् । छाया-आर्द्रार्द्रकरजरदनचतै तव लोचनयोर्मम दत्तम् । रत्नाशुरु प्रसाद कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते इति ।

अतः सपत्न्या कृत नखचतादि दृष्ट्वा कोपारक्तनयना भर्तुं प्रश्नमुत्तरयति तत्र । अत्र किमिति कुपिते लोचने बहसीति प्रश्नोच्चयनादुत्तरालङ्कारेण न केवल-माद्र्द्रचतानि गोपायसि तेषामह प्रसादपात्रमपि जाता इति वस्तु व्यज्यते, कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते इति अपह्नुतिसहितेन वस्तुव्यक्ति । ४ अत्रैवालङ्कारेणालङ्कारस्य यथा-'महिलासहस्रभरिण' इति प्राकृतपद्यमुदाहरणम् । छाया-महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती । अनुदिनमनन्यकर्मा अह तन्वपि तनयति अत्र विरहकृशा नायिका नायकायावेदयन्त्या सरया उक्तिरियम् । अत्रामान्तीत्यत्र महिलासहस्रभरितत्वं हेतु । तनूकरणे च अमान्तीत्यत्र हेतु । नतो महिलासहस्रभरितत्वात्तव हृदि स्थान न लभ्यते, ततोऽह तन्वपि तनयतीति हेचलङ्काराभ्या तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति कारणसत्त्वेन कार्यानुपत्तिरूपो विशेषोक्तिरलङ्कारो ध्वन्यते । एषु चतुर्पदाहरणेषु कविनिर्गद्यवक्तृशैलोक्तिमात्र सिद्ध्यञ्जकार्थ । एवम् अर्धशक्त्युद्भवध्वनेर्द्वादश भेदा ।

एव द्विविध शब्दशक्तिमूल द्वादशविधमर्थशक्तिमूल च सत्ययक्रमव्यङ्ग्य निरूप्येदानीमेकविधमुभयशक्तिमूल निरूपयति 'अनन्दचन्द्राभरणे'ति उदाहरणेन । शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ तद्रूप यदुभय तद् शब्दव्यङ्ग्यव एको वस्तुनाऽलङ्काररूप इति कारिकार्थ । ननु शब्दशक्तिमूलेऽप्यर्थस्य, अर्धशक्तिमूलेऽपि शब्दस्य व्यञ्जकत्वमस्तीति उभयशक्तिमूलकत्वं सर्वथास्तीति चेन्न । तत्र तयोर्गुणप्रधान भावेन व्यञ्जकत्वं प्रतिपादितम् । अत्र तु द्वयोरेव प्राधान्येन व्यञ्जकत्वमिदमुभयशक्तिमूलत्वम् । तथा हि शब्दस्य परिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यां शब्दार्थो-भयशक्तिमूलत्वमिति ज्ञेयम् । अत्रोदाहरणे अतन्द्र स्फुरद्रूप चन्द्र एवाभरण भूषण यस्या सा अत एव सम्यगुदीपित प्रवलीकृतो मन्मथो यया सा, तारका नचत्राणि तरला स्वल्पा यस्या सा, श्यामा रात्रि क जन सानन्द न करोति अपि तु सर्वमेवानन्दयतीति रात्रिप्रचेष्ट्य । अतन्द्रा सुरतादावाल्लस्यरहिता सा चासौ चन्द्र कर्पूर सुवर्णनिर्मितशिरोभूषणविशेषो वा आभरण यस्या सा । सुदा हर्षेण सहिता समुदीपितो दीप्तिं प्रापितो मन्मथो यया सा दीपितमन्मथा

तारका अक्षिगतकृष्णकनीनिका तरला चञ्चला यस्या सा । यद्वा तारकावत्  
नक्षत्रवदीप्त तरलो हारमध्यमणिर्यस्या सा । एवम्भूता श्यामा षोडशवार्षिकी  
नायिका क पुरुष सानन्द न करोतीति नायिकापक्षेऽर्थः ।

अत्रैवरीत्याऽर्थद्वयप्रतीती खोविशेष इव रात्रिरिति, ज्यौत्स्नी रात्रिरिव  
नायिकेति वा उभयत्रोपमालङ्कार प्रतीयते व्यज्यते, तदाह—‘अत्रोपमा व्यङ्ग्येति ।  
अत्र च चन्द्रतारकातरलश्यामाशब्दा परिवृत्त्यसहा । पर्यायान्तरोपादानेऽप्यर्थ  
बोधासम्भवात् । अतन्द्राभरणसमुद्दीपितमन्मथसदृशस्य परिवृत्तिसहा अनिद्रा  
भूषणसमुत्तेजितकामादिपर्याया-त्तरैरपि तदर्थप्रतीतेरिति उभयशक्तिमूलत्वमिति ।

प्र० १३—निम्नोद्धृतपद्यानां च्यनिभेदं प्रदर्श्य पद्यव्याख्यानप्रसङ्गेन  
भवन्मतं सोपपत्तिकं सम्प्रर्प्यताम् ।

चतुर्थोल्लासे पद्यसंख्या ७४, ७६, ८० ८१, ८४, ८७, ९१, ९९,  
१००, १०९, ११० ।

उ० १३—अत्र पद्य ७४ यथा—

खलव्यवहारा दीप्तान्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणाम् ।

द्विजभवअस्सबहुमभा ण हु ववसाभा विमुञ्चन्ति ॥

अस्य छायैवम्—‘खलव्यवहारा इत्यन्ते दारुणा यद्यपि तथापि धीराणाम् ।  
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुञ्चन्ति’ इति ।

इदं पद्य पदप्रकाश्यात्वे अविवक्षितवाच्यध्वनिभेदमत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमुदा-  
हरति । पद्यव्याख्यानत्वेवम्—

यद्यपि खलानां धूर्तानां शठानां व्यवहारा चरितानि दारुणा हु खदा  
अन्येष्टप्रतिग्रन्थका इत्यन्ते तथापि सदर्थप्राप्तितया हृदयमेव यस्य मित्र तेन  
बहुमता अनुमोदिता धीराणां महतां व्यवसाया उद्योगा न खलु विमुञ्चन्ति  
न प्रतिवद्वा भवन्तीत्यर्थः, यद्वा न विराम प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

अत्र अचेतने व्यवसाये मुरयो विमोह बाधित सन् कार्यकारणभायसम्ब  
न्धात् प्रतिबन्धरूप विरामरूप चार्थं लक्षयति । तेन च सर्वथा इष्टकार्यकारित्व  
व्यङ्ग्यम् लक्षणलक्षणाफलम् । तथा च विमुञ्चन्तीति पदमत्यन्ततिरस्कृतवाच्यं  
सद् व्यञ्जयम् । अत्र विमुञ्चन्तीति पदस्यैकस्यैव व्यञ्जकतेति पदप्रकाशयत्वम् ।

‘उपकृत बहु तत्र’ इति पद्ये तु सर्वेषां पदानां व्यञ्जकत्वमिति तत्र वाक्यप्रकाशयत्वमिति भेदः ।

७६ तमपद्यं यथा—

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमसिद्धिं कालं विभारम्यते,  
मानं धास्व धृतिं वधानं श्रुता दूरीकुरु प्रेयसि ॥  
सरयैव प्रतिबोधितां प्रतिवचस्तामाह भीतानना,  
नीचैः शस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वर श्रोष्यति ॥

न केवलं सर्वनामपदानामेव रसादिव्यञ्जकता किं त्वन्येषामपीति ध्वनयन् अनेन पद्येनात्र सम्भोगोऽसलक्ष्यक्रमच्छन्निमुदाहरति—विदितरहस्यां मानोपदेशं कुर्वाणा सखीमगणयन्त्या भर्तारि प्रणयविनयवत्या नायिकाया भङ्गवन्तरेण तां प्रायुक्तिरियम् । हे मुग्धे उपदेशाग्रादिणि त्वयाऽपि सप्तमं कां मुग्धं तयैव यथोचितानाचरणेनैव मानचातुरीशून्यतयैव वा ननु यापयितुं किं किमिति आरभ्यते किंतु मानं धास्व धारय धैर्यं वधानं प्रेयसि प्रियतमविषये श्रुताः सरलतां त्यज दूरीकुरु । इत्येव सरयां प्रतिबोधिता मुहुर्मुहुर्पदिष्टा अकृत्रिमां सुराणां नायिका भीतानना भयजनितवैबल्यवद्भवता सखी तां प्रतिबोधयन्ती सखीं प्रतिवचं उक्तरमाह । उक्तरं दर्शयति—हे सखि त्वं नीचैर्मन्त्रं शस कथय । हि यस्मात् प्राणेश्वरं प्राणानां तदायत्तवाजीवितसर्वस्वायमानं अत एव मे मम हृदि हृदये स्थितो विद्यमानं श्रोष्यति आनर्णयिष्यति । ननु शङ्कायाम् । अत्र सख्या अपरिहार्यवाक्यतया नीचैः शसनस्य विधानं कृतम्, नैव शसेति च नोक्तम् । अत्र भीताननेति पदं नीचैः शसनविधानस्य युक्ततां प्रकाशयन् प्राधान्येन भयप्रतिपाद्याकृत्रिमानुरागेण रागातिशयं सम्भोगातिशयं वा ( शङ्कारसः ) व्यञ्जयतीत्यर्थः ।

पद्यं ८० ८१ यथा—

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका । तच्चिन्तारिपुलाह्लादशीणपुण्यचया तथा ।  
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् । निरुद्धासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥

अत्र दुग्मके स्वतः सम्भविना वस्तुना जलद्वारस्य व्यक्तिमुदाहरति—इदं सलक्ष्यक्रमवद्भवमर्थमूलकम् । अधुना पद्यस्य व्याख्यानम् यथा—अन्या उक्ताभ्यो भिन्ना काचित् गोपकन्यका निरुद्धासतया निरुद्धप्राणवायुतया परब्रह्म-

स्वरूपिणं सच्चिदानन्दरूपं जगतः संसारस्य सूतिरूपपत्तिः यस्मात्तादृशं श्रीकृष्णं चिन्तयन्ती भावयन्ती सती मुक्तिं मोक्षं गता । कीदृशी, तस्य कृष्णस्याप्राप्त्या वियोगेन यन्महादुःखं तेन विलीनानि नष्टानि अशेषाणि पानकानि यस्याः सा पुनः तस्य श्रीकृष्णस्य चिन्तया भावनया ध्यानेन यो विपुलो महान् आह्लाद आनन्दस्तेन क्षीणो नष्टः पुण्यस्य चयः समूहो यस्याः सा इति वाच्यार्थः । अत्र जन्मसहस्रैरपभोग्यानि दुष्कृतसुकृतयोः फलानि वियोगदुःखचिन्तामाह्लादाभ्यां कयाऽप्यनुभूतानीत्युक्तम् । एवञ्च दुष्कृतसुकृतफलराशिसादात्मनेनाप्यवेसितौ भगवद्वियोगदुःखचिन्तनाह्लादौ प्रतीयेते इति निगीर्याप्यवसानरूपातिशयोक्ति-द्वयमशेषचयपदाभ्यां श्रोत्यते ।

पद्यं ८४ यथा—

राईसु चन्द्रधवलासु ललिभमप्फालिऊण जो बावम् ।

एकच्छत्रं विभ कुणइ भुअणरजं विजंभंतो ॥

अस्य द्वाया—रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।

एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥

अत्रार्थमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरे व्यञ्जकेऽर्थे वस्तुना वस्तु व्यज्यते । मानिनीं प्रति माननिर्वाहः कठिनः इत्येतद्वेधिका सण्युक्तिरियम् ।

व्याख्या—यः प्रकृतः स्मरः चन्द्रेण धवलासु उज्ज्वलासु रात्रीषु उपौत्सी-  
विति यावत् । ललितं सुकुमारमेव कुसुममयमेव (न तु कमठवृष्टकठोरम्) चापं  
धनुः आस्फाल्यैव, न तु वागादि संधाय भुवनानां राज्यम् एकमेव छत्रं यत्र तथा-  
भूतमिव अद्वितीयमिवेति यावत् करोति । अत एव विजृम्भमाणः विस्फुरमाणः  
अतिसाहंकारतया वर्तमान इत्यर्थः । अत्र चापास्फालनेन एकच्छत्रमिव भुवनराज्यं  
करोतीति कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना स्वशासकानङ्गपारवश्येन कुशलैः कामिभि-  
र्जाग्रभिः उपभोगपरैरेव निशाऽतिबाह्यते इति वस्तु भुवनराज्यपदेन प्राधान्येन  
व्यज्यते । कामिनाम् इत्यत्र कामिन्यश्च कामिनश्चेति कामिनः । 'पुमान् स्त्रिये'त्येक-  
शेषः । न कोऽपि तदादेशपराङ्मुखः कामाज्ञाभङ्गः आसीदिति हेतोः उपभोग-  
परैरुपभोगासक्तैरेव निशा नीयते इत्यर्थः । अल्लण्डाज्ञाविषयो हि साम्राज्यम् ।  
अत्र भुवनराज्यपदस्य प्रधानत्वात् पदप्रकारयता । कैलासस्य प्रथमशिखरे इत्यादौ  
न नेदशं किमपि पदमिति वाक्यप्रकारयतैवेति भेदः । अत्र 'एकच्छत्रमिव'

इदं उच्येद्वा सा च न व्यञ्जनोपयोगी प्रत्युत तत्परित्यागेऽतिशयो गम्यत निर्धारितार्थप्रतीते ।

अत्र वृत्तेर्व्याख्यानम् यथा—असौ प्रजापालनपरो राजा स्मर तेभ्य तदर्थम् कन्दर्पप्रजारूपकामुकप्री यर्थमिति यावत् । तादर्थ्ये चतुर्ः । 'तेषु मध्य' इति व्याख्यानं नातीव समीचीनम् । यत्त कश्चिदपि स्त्रीपुरुषात्मको जा विरक्तोऽपि तद्वादेशपराङ्मुख कामाज्ञासञ्जक सुरतनिमुख नासीत् अत एव जाम्बविर-भोगपरैरेव तैनिशाऽतिवाह्यते इति ।

पद्य ८७ यथा—

सो मुद्रसामलतो धम्मिहो कलिअल्लिअणिअदेहो ।

तीप् सधाहि बल गहिअ सरो सुरभसगरे जअइ ॥

झाया—स मुग्धस्यामहाहो धम्मिहो कलितललितनिषदेह ।

तस्या स्क्न्धादल्ल गृहीत्वा स्मर सुरतसङ्गरे जयति ॥

इत्थं कनिप्रोढोक्तिमात्रसिद्धानालङ्कारेणालङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति । पद्यस्य व्याख्यानम्—स धम्मिह केशपाश एव स्मर वामस्तस्या नायिकाया स्क्न्धोऽसमाग एव स्क्न्ध सेनानिवशस्तस्मादल्ल सामर्थ्यमेव बल सैन्य गृहीत्वा सुरतसङ्गरे सुरतरूपे सङ्ग्रामे जयति सत्रो कर्पेण वर्तते । कीदृश मुग्ध सुन्दर श्यामलम् ( श्यामलम् ) अहं यस्य स । तथा ललित पुनरापादितो ललितो मनोहरो निषदेह स्क्न्धरार धम्मिह रूप मन स । इति याव्यर्थः ।

तादृशस्य हि महापुरुषबुद्ध्या स्वकीयबलदानेन साहाय्यकमाचरन्ति एका इति बोध्यम् । धम्मिह स्मर इति रूपकम् । स्क्न्धादिति बलमिति च श्लिष्टरूपके सुरतसङ्गरे इति रूपकम् । यथा युद्धाधिपतमानमपि कश्चित् कश्चिन्मित्रभू तोऽन्यत स्क्न्धावारात् बल लब्ध्वा त प्रोसाहयति तथा अस्या नायिकाया पूर्वसुरतवेलाया मुहुर्मुहु कर्पणेन स्क्न्धपतितकेशपाश साहाय्यस्मर एव स्क्न्धाद् बल गृहीत्वा ( लब्ध्वा ) सुरतभोगनिवृत्तमपि मा मन प्रोसाहनेन सुरते प्रवर्त यतीति भावः । अत्र रूपकेणेति एकवचनम् जायभिप्रायेणानेकेषा रूपकाणा सत्वात् । सुरतसङ्गरे इति धम्मिह स्मर इति रूपकालङ्काराभ्यामियर्थः । धम्मिहस्य स्क्न्धसम्बन्धेन शोभातिशयलाभात् स्क्न्धपदस्य प्राधान्यम् । तथोपर्युक्तरूपकाम्ना रयनिष्पत्तिरूपामिलापहेतुभावेऽपि अभिलापोदयात्



विभावनाऽलङ्कारो व्यज्यते । रतिनिष्पत्तिश्च स्वधपदेनैव चोचिता । आकर्षणेन हि घग्निहस्य स्कन्धप्राप्ते प्रायसो रतिनिष्पत्तिं विनाऽसम्भवात् । अत्र रूपक स्वतोऽसम्भवीति कविश्रीदोक्तिमाश्रयितम् ।

पद्य ९१ यथा—

विहलखलं तुम सहि दूदूढं कुट्टं तरलतरदिष्टम् ।

धारस्फसमिसेण अन्ध्या गुर भोक्तिपादिभ विदिण्णो ॥

अस्य छाया—विहङ्गला त्वां ससि दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदिष्टम् ।

द्वास्पर्शमिवेण चान्मा गुरक इति पातयित्वा विभिन्न ॥

अत्र पद्ये कविनिघट्टवत्कृतीदोक्तिमाश्रयित्वेनालङ्कारेण यस्तुनो व्यक्तिमुदाहरति । व्याख्यानं पद्यस्य यथा—नदीरूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशसमये पश्चादागच्छन्तं कामुजं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय युधिपूर्वं द्वारस्पर्शं व्याप्तेन घट् स्फोटितवतीं नायिकां प्रति सत्या रज्जुभिप्रायोऽपगतो मया तस्मात्समाश्राम विधाय समीहितमिदं यत्र । अहं स्वच्छून्नादिनिन्दे सर्वं समाधारये इत्यभिप्रायगर्भां अविदुश्चपनप्रतारणायोक्तिरियम् । हे सखि विश्रुतमिति भारजशात् विकला व्याकुला या अत एव तरलतरदिष्टम् अतिशयितचञ्चलदिष्टम् त्वा दृष्ट्वा कुटेन घटेन ( कर्त्रा ) आन्मा स्वस्वरूपम् धग्म्यपदस्य कम्पुग्रीवादिमान् भृन्मयो देह इति यावत् गुरकं गरीयान् इति स्वादस्या अपि कष्टदायक इति तु ज्ञेनेति भावः । द्वारस्पर्शस्य मिवेण व्याप्तेन पातयित्वा विभिन्न स्फोटित इत्यर्थः । अन्तर्भावितव्यर्थोऽयम् । नाय द्वारस्पर्शात् घग्नात्सत्या कृतं किन्तु गुरनया परपीडकयात् घग्नेनैव व्याप्ता विभेदित इत्यपदुत्पलङ्कारः । विश्रुता कामपरवक्षामिति इति स्थितोऽर्थः । कृतेष्वारयानं तु गृहप्रवेशावसरे गृहप्रवेशसमये आगतं कामुकं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याप्तेन युधिपूर्वं व्याकुला त्वया घट् स्फोटितः अत्रैव युधिपूर्वं विभेदित इति मया पिन्तितमपगतम् । तत् तस्माद् यत्र गच्छ अत्रोपरिप्रदर्शनापदुत्पलङ्कारेण स्वभिप्रायोऽपगतो मया, तस्मात्समाश्राम विधाय समीहितमिदं यत्र अहं स्वच्छून्नादिनिन्दे सर्वं समपदिष्ये, इति यस्तुन धारस्फसमिसेनेति पदप्राधान्यात् पदप्रकारयना । अत्रापेने घट् स्फोमविभेदनरूपचेतनधर्मारोप इति तन्मूलकायाऽपदुत्पलेन श्रौतदोक्तिसिद्धयम् ।

पद्य ९२ यथा—

अथि अथि एकचक्षुचक्षुरामाश्रुतां दीति दीति पवमानो वीर्यो नामरात्र ।

नरि नरि किरिति द्वाक् सायकान् पुष्पधन्वा पुरिपुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा॥  
 अत्र प्रत्ययरूपपदैकदेशयो तिङ्शुपो सम्भोगशृङ्गारस्य व्यक्तिमुदाहरति  
 पद्यव्याख्यानं यथा—व्यन्तवर्णनमिदम् । परि पथि प्रतिमार्गम् अङ्गुराणां नूतनप्ररो  
 हाणाम् आभा कान्ति शुकचञ्चूनामिव चारुर्मनोहरा (अस्ति) । एवम् दिशि दिशि  
 प्रतिदिश वीरुधा रताना लासको नर्तकं पवमानो वायुश्चास्ति । आभ्या च वा-  
 क्यभ्या नूतनाङ्गुरशोभाशालिवसन्तुर्षवदिवसञ्चारिमन्दमारुनयोरङ्गीपकयो सम्प  
 सिरुक्ता । तत्कार्यमाह—नरि नरीति । नरि नरि प्रतिपूरुष पुष्प धनुष्यस्य स  
 पुष्पधन्वा काम द्वाग् इदिति सायकान् पञ्चापि बाणान् किरिति शिप-तीत्यर्थः ।  
 ( एव कामाङ्गीपने सति ) पुरि पुरि प्रतिनगर मानिनीना माननीना स्त्रीणा  
 मानस्य चर्चा वार्ता प्रसङ्गो वा विनिवृत्ता विशेषेण निवृत्ता गतेत्यर्थः । अत्र  
 नरि नरि पुरि पुरि इत्येतयो स्थानात्प्रमाणेन एकैकस्या पुरि एकैकस्मिन्  
 नरि सायकपातेन सम्पूर्णनगरे आसात् सर्वासा मानभङ्ग तथा पुरुषेऽपि रा-पातेन  
 मानघनाभि स्त्रीभिरपि मानस्यक्त इति असीवाखण्डाज्ञाशालित्व मन्मथस्य  
 द्योत्यते । अत्र किरतीति तिङ् । किरणस्य साध्यत्वम् तिङ्प्रयोगे व्यञ्जनया साध्य-  
 त्वैव धात्वर्थोपस्थिते निवृत्तेति सुप्रत्ययेन निवृत्ते सिद्धत्वम् सुव्योगे व्यञ्जनया  
 त्वैव प्रकृत्यर्थप्रतीतेः । तत्र सिद्धत्वेऽपि 'क्' प्रत्ययेन अतीतत्वं व्यञ्ज्यते इति ।  
 किरणनिवृत्त्यो पीर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्त्यलङ्कारप्रकाशो रसोत्कर्षे पर्यवस्यति  
 यथा च किरतीति वृत्तेति तिङ्शुपो प्रत्ययात्मकपदैकदेशयो क्रमेण प्रत्ययार्थगन-  
 साध्यत्वसिद्धत्वाभिन्नचित्तिद्वारा रसुदीपनातिशयपर्यवसानात् प्राधान्यम् । मान  
 निवृत्तौ शरकिरणम् तस्य सिद्धत्वे वक्तव्ये किरतीति तिङ्प्रत्ययेन साध्यत्वोक्तिः ।  
 मानानिवृत्तौ च कार्यभूताया साध्यत्वे वक्तव्ये सिद्धत्वोक्तिस्तथा च किरणनि-  
 वृत्त्यो कारणकार्यभूतयो पीर्वापर्यविपर्ययात् कार्यकारणयो पीर्वापर्यविपर्यय  
 रूपातिशयोक्त्यलङ्कारप्रकाशः । स च निवृत्ते शीघ्रवबोधनद्वारा वसन्तस्थो-  
 दीपकातिशयाभिप्यत्ते रसोत्कर्षे पर्यवस्यति इति 'क्' प्रत्ययेनातीतत्वं शक्या  
 बोध्यते तेनोत्पन्नस्वरूप सिद्धत्व व्यञ्जनम् । तथा च प्रकृत्या प्रत्यायितस्याऽप्य  
 तीतत्वस्य पुनः कृ-प्रत्ययेन प्रत्यायनमतिशयाद्यगमाय ।

पद्यं १०० यथा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनत प्राणदयितो

निराहारा सख्य सतत्पन्नितोच्छूननयना ॥

परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-

स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥

अत्र प्रत्ययरूपपदैकदेशेषु सुसिद्धविशेषेषु विप्रलम्भशृङ्गारस्य व्यक्तिसुदाहरति ।  
अत्र पद्येऽमरुशतके बहुदिनव्यापिमानवर्ती प्रति सख्या उक्तिरियम् । व्याख्यानम्-  
हे कठिने निर्दये तव प्राणानां दयितः प्रियः । तेन दयितदुःखेन त्वत्प्राणा अपि  
दुःखिता भविष्यन्तीति ध्वन्यते । यद्वा तव प्राणा इव सोऽस्माकं दयितः तथा  
च त्वत्प्राणा इव सोऽप्यस्माकं रक्षणीय इति भावः । ईदृशोऽपि अयनतः नम्र  
भूमिं न तु भूमौ । तेनाकाङ्क्षितस्य कर्मणः अनुद्देशत्वं ध्वन्यते । लिखन् शून्य-  
हृदयतया । विलिखन् न तु लिखतीति । तेन लिखनस्याबुद्धिपूर्वकत्वरूपाप्रा-  
धान्यं ध्वन्यते । बहिः बाह्यदेशे न तु गृहमध्ये । तेन नायकस्याप्युद्देशो ध्वन्यते ।  
आस्ते उपविष्टोऽस्ति न त्वासीत् । तेनैवमवस्थानस्य प्रसादपर्यन्तता ध्वन्यते ।  
तथा सख्यः सर्वाः यस्यसा मिर्गतः आहारो यासां तथाभूताः सत्यः सततं  
निरन्तरं यद् हृदितं तेनोच्छूने जातशोके नयने चक्षुषी यासां तथाभूताः ।  
सन्तीति शेषः । तथा पञ्जरस्थैः शुकैः कीरैः हमितं हसनं पठितं पठनम् अन्यच्च सर्वं  
शरीरधारणोपयोगि भोजनादिकमपि परित्यक्तम्, उज्झितम् अज्ञानामपीदृश्यवस्था  
किं पुनरस्माकमिति भावः । पञ्जरेत्यनेनाभ्यव्रगमनासामर्थ्यं व्यज्यते । शुकैस्त्वेक-  
वचनं न कृतम् । एकस्य शिष्टादिनापि तथा ज्ञानसम्भवात् । तव चेयमुत्तरोत्तर-  
वर्धमानासह्यपीडाजनिका अवस्था दशा । जातेति शेषः । अतः अधुना वसन्त-  
चन्द्रिकादिभिरुद्गमे मम्मथविलसिते सतीत्यर्थः । मानं विसृज विशेषेण  
त्यजेत्यर्थः । अत्र लिखन्नित्युक्तं न तु लिखतीति तेन शत्रुप्रत्ययेन लिखनस्या  
प्राधान्यमबुद्धिपूर्वकत्वरूपम् । आस्ते इत्युक्तं न त्वासीदिति । तेन तथावस्थानस्य  
प्रसादपर्यन्ततां तिङ्विभक्त्या व्यज्यते । भूमिमित्युक्तम् न तु भूमाविति । तेन  
बुद्धिपूर्वकं भूमौ किञ्चिन्न लिख्यते इति सुविभक्त्या व्यज्यते । तेन च व्यङ्ग्येन  
नायकस्य मोहातिशयो व्यज्यते तेन च विप्रलम्भोत्कर्षो व्यङ्ग्य इति भावः ।

पद्यं १०९ यथा—

रामोऽसौ मुचनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तं प्रसिद्धिं परा-

मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ।

वन्दीवैव यशांसि गायति मरुत्तस्यैकवाणाहति-

अङ्गीभूतोवैशाल्यतालेविवरोद्गीर्णं । स्वरेः सप्तभिः ॥

प्रदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादय इति यदुक्तं तत्र तेषां बहुना रसव्यञ्जकत्वम् ।  
अत्र पद्ये बहुना वीररसव्यञ्जकत्वमुदाहरति । तस्य व्याख्यानम्-राघवानन्दनाटके  
रावगमुद्दिश्य विभीषणोक्तिरियम् । राम सकलभुवनमनोरमण एतेन  
सर्वे तद्वितकारिण इति व्यज्यते । असौ स्वरूपणादिनिहन्तृत्वेनातिप्रसिद्धः  
विलक्षणधैर्यगाम्भीर्यादिशाली च भावनया प्रत्यक्षायमाणश्च । विष्णुगुणैरिति ।  
केवलं प्रसिद्धिं प्राप्त इत्युक्तौ सदोपगुणैरपि प्रसिद्धिसम्भवः यथा सम्बोधयराव-  
णस्य । तन्निवृत्त्यर्थं गुणैरिति । न केवलं गुणैः अपि ॥ विक्रमजैः । एतेन सीता-  
दानस्यावश्यकत्वं व्यज्यते । सापि (प्रमिद्विरपि) न ग्रामे न नगरे नापि भुवने  
किंतु भुवनेषु, तेष्वपि न कृशा किंतु पराम् । तेनाज्ञातत्वनिरासः । यद्वा विष्णु-  
गुणैः प्रकृष्टा सिद्धिः अलक्षणा भुवनेषु प्राप्त इत्यर्थः । एतेन सर्वथाऽपि युद्धेऽ-  
जेयत्वं ध्वन्यते । तमपि यत् देवो दिव्यज्ञानवानपि भवान् न जानाति तद् अस्माकं  
भाग्यस्य विपर्ययादेव अन्यथाविपरिणामादेर न तु त्वद्भाग्यविपर्ययात् त्रैलोक्य-  
नाथतादृशमहापुरुषहरतेन मरणेऽपि मोक्षलक्ष्मीविलासलाभेन तस्यापि भाग्य-  
फलत्वाद् अस्माकं पुनः चिरकालजीवितानां रमादृशप्रभुविपद्दर्शनात् त्वद्विषोपाय-  
निरन्तरदुःखदावानलपच्यमानानां पर भाग्यविपर्ययः । यदि परमिति निपातः  
समुदायोऽवधारणार्थः । अत्र भाग्यविपर्ययादित्युक्तं न तु अभाग्यादिति । तेन  
त्वादृशप्रभुलाभात् सार्वदिकातिशयसुखलाभेनाभाग्यविरहेऽनुमितेऽपि भाग्या-  
न्येव विपरीतफलत्वेन परिणतानीति ध्वनिः । अस्मदित्यनेन समस्तरत्नकुलस्यैव  
तथाऽव प्रतीयते । प्रसिद्धिहेतुभूतं विष्णुगुणोदाहरणमाह—वन्दीति । एष मरु-  
वायु वन्दीव वैतालिक इव सप्तभिः स्वरैः षड्जादिभिः यस्य रामस्य यथासि  
गायत्रीवेत्युपदेशार्थम् । सप्तस्वराश्चेत्ता 'निषाद्वर्षभगान्धारपङ्कजमध्यमधैवता ।  
पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः ॥' इति । कीदृशैः स्वरैः । एकवाणहरया  
जातानि यानि श्रेणीभूतविशालताटानां विवराणि रन्ध्राणि तैः उद्गीर्णां प्रकाशिता-  
स्तैस्तथामूर्तैरित्यर्थः ।

अत्रासाविति सर्वनाम्ना भुवनेऽभवति गुणैरिति उभयत्रैव प्रातिपदिकबहु-  
वचनयोः, अस्मादिति सर्वाच्चेपिणोः, भाग्यविपर्ययादिति अन्यथाविपरिणाममुखे-  
नाभिधानस्य च वीररसव्यञ्जकत्वं सहृदयवेद्यम् । अन्यथासम्पत्तिं दुर्भाग्यरूपेण

परिणमनम् । नत्यभाष्यादिति अभाषनुत्वेन । अतस्त्वधात्रिपेताभाष्यतिरेकी  
भाष्यान्देशेन तादृशत्वेन परिणतानीति व्यस्यते । पद्य ११० यथा—

तरणिमनि कलपयति कलामनुमदनधनुर्भुजोः पट्यपमे ।

अधियमति सखललनामौलिमिष चरितहरिणचलनयना ॥

यद्वृत्तां शृङ्गाररसस्यञ्जकव्यमुदाहरति । इयमेवा चरितरस्य भीतरस्य हरिणस्य  
मृगस्य चले चञ्चले नयने इव नयने यस्याः सा यद्वा चरितरस्य हरिणस्य  
चने नयने यस्या इति अपि विग्रहः । तथाभूता नायिका सखललनानां मौलि-  
मधियमति । 'उपायव्याख्या' सूर्यभाष्यारस्य कर्ममंता सरसमुन्दरीरिति  
तिष्ठतीत्यर्थः । स्त्रीमात्रचूडामगिरं प्राप्नोतीति यावत् । करिमन्तति । तरणिमनि  
सारण्ये कला कलाचविशेषादिरूपां कलपयति शिचयति सति अर्थाच्चविहाय ।  
यद्वा तरणिमनि कलामुपचयं ( वृद्धि ) कलपयति प्राप्तयति सतीत्यर्थः ।  
पुनः करिम् सति भुजोरमे भ्रूलतामे अनुमदनधनुः मदनधनुः कामधनुः  
समीपे पठति सति अर्थात्कलाः । अत्र चरितेत्यनेन चक्षुषोऽप्राप्तयदिति तावो  
व्यस्यते । वृत्तेत्याख्यानं यथा—

अत्र इमनिस्त्रयव्याख्ययीभाष्यरसमामकर्मभूताधाराणां शृङ्गारस्यञ्जकस्य इति-  
यति अग्रमनिजिह्वादिना तरणिमनि इति 'इमनिष्' प्रत्ययः । अनुमदनधनुः  
व्याख्ययीभाष्यः । मौलिमिति कर्मभूताधाररत्नेषामित्यर्थः । स्वरूपस्येति । शृङ्गारस्यञ-  
कव्यमिति शेषः । तदेवाह तरण्ये इति । यथा इमनिजादीनां वाचक्ये त्वादिभिर्वा-  
त्प्रत्ययादिभिर्भुजस्येऽपि अस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषः इति । भुजिरदुर्गादिर्ज्ञानो  
माधुर्वादियुक्तोऽयचनामोचरः मद्दयमेव इत्यर्थः । यद्यमन्तरवारी न एव त्वञ-  
कव्यं प्राप्नोतीति । अयं भावः । इमनिषा तन्निनेन मृगमाराचरेण गारुगमेव भवं यव-  
प्रतीयते । तरण्ये इत्युक्ती तु प्रापयस्य प्रीतिचरनया वयस्येऽपि प्रीत्यं प्रीति-  
अनुमदनधनुः इति पूर्णपदार्थप्रधानाव्याख्ययीभाष्येन उत्तरपदार्थभूतधनुषोऽनापार्थ-  
प्रकटयता तस्मिन्नेववतीकरणमामर्षं भूताप्रस्य प्रत्ययस्येति । यथा मीमिति  
कर्मप्रापयेन कर्मभूतस्य कललनामौलिमिषातिमूचनद्वारा मौन्दरीरित्यो-  
व्यस्यते । मौली इत्युक्ते तु आधारस्यैव देनवृत्तिनाया अति सम्भवात्प्रति-  
प्रतीयेत । एवम् इमनिजादीनामेवैवव्यवस्थानद्वारा शृङ्गारस्यञ्जकव्यमिति ।

## चतुर्थोऽङ्कासः

अस्योऽङ्कासस्य सर्वोऽप्य विषय कोष्टरूपेण निम्न प्रदर्श-  
रसा नत्र सन्ति नवैव च तेषां स्थायिमात्रा । तथा-—

| रसनाम   | स्थायिमात्र    | उदाहरणम्                                  |
|---|----------------|---|
| १ शृंगार (क) सम्मोह<br>(ख) विप्रलम्भ २ भ्रमिल्लाहाहेतुक | रति            | शूय वामगृह ॥ ३० ॥<br>प्रमादो प्रणय ॥ ३२ ॥ |
| २ विरहहेतुक   | "              | अन्वय व्रजनीति ॥ ३३ ॥                     |
| ३ ईर्ष्याहेतुक  | "              | ना पश्य प्रथमा ॥ ३४ ॥                     |
| ४ प्रवासहेतुक   | "              | प्रसंग वल्लभ ॥ ३५ ॥                       |
| ५ शपिहहेतुक   | "              | वामानिख्य ॥ ३६ ॥                          |
| ६ हास्यम्   | हास            | भाजु य पाणि ॥ ३७ ॥                        |
| ७ करुण  | शोक            | हा मानसहरिता ॥ ३८ ॥                       |
| ४ रौद्र   | क्रोध          | जनमनुमत दृष्ट ॥ ३९ ॥                      |
| ५ वीर   | साह            | धुद्रा सत्राममेते ॥ ४० ॥                  |
| ६ भयानक   | भयम्           | श्रीशम्भुहामिराम ॥ ४१ ॥                   |
| ७ शोभस्त  | जुगुप्सा       | उक्तोक्तवृत्ति ॥ ४२ ॥                     |
| ८ अद्भुत  | विस्मय         | चिदमहातेजवता ॥ ४३ ॥                       |
| ९ नाग   | निर्वेद शमो वा | यही न कारे वा ॥ ४४ ॥                      |

भाषादीनां लक्षणमुदाहरणं च ।

निम्नलिखितकोष्टे द्रष्टव्यम्—

| भावनाम  | लक्षणम्  | उदाहरणम्  |
|---|--|---|
| १ भाव<br>(क) दैवविषया रति<br>(ख) भक्तिरूपमिवारा | रतिर्देवविषया ।<br>"   | कण्ठकोशविनिविष्टमीश ॥ ४५ ॥<br>अनेकोपपराकमुनी ॥ ४७ ॥ |
| २ रसामास  | तदाभासा भनौचि यप्रवर्णि  | गुण क वामाभि ॥ ४८ ॥                                 |
| ३ भावाभास                                       | "  | नानुशङ्करमुली ॥ ४९ ॥                                |
| ४ भावशान्ति                                     | भावस्य शान्ति प्रथम  | नस्या साद्रिष्यय ॥ ५० ॥                             |
| ५ भावोदय  | भावस्योदय  | वस्मिन् नयने ॥ ५१ ॥                                 |
| ६ भावशुचलना                                     | भावानां शुचलना पूर्वपूर्वा<br>यमर्देन परस्परौदय                                    | काङ्क्षार्थं शुचलनमन कच ॥                           |
| ७ भावसन्धि                                      | भावयोरैककान्मेव तुल्यक<br>छयोरास्व द समकाल<br>मेव विरहयोरपि तुल्य<br>अयोग्यमानो वा | उत्सुकस्य तप पराक्रमनिध<br>रम्यागमादेक ॥ ५२ ॥       |

# कान्यप्रकाश-रहस्यम्

ध्वनेर्भेदा उदाहरणानि च यथा—

ध्वनेर्भेदाः

उदाहरणानि

|   |                                   |
|---|-----------------------------------|
| १. अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो ध्वनिः          | स्वामरिम वच्मि विदुषाम् ॥ २३ ॥    |
| २. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः "                  | उपकृत बहु तत्र किमुच्यते ॥ २४ ॥   |
| ३. अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं "                   | शून्य वासगृहं विलोक्य ॥ २० ॥      |
| ४. शब्दशक्तिमूलकालङ्कारस्य "                | उल्लास्य कालकरवाल ॥ ५४ ॥          |
| ५. शब्दशक्तिमूलकवस्तुनः "                   | पथिव ! नान स्वरतरमसि ॥ ५८ ॥       |
| ६. स्वतः सम्भविना वस्तुना वस्तुनो व्यक्तिः  | अलसशिरोमगिर्धूसानाम् ॥ ६० ॥       |
| ७. " " " अलङ्कारस्य "                       | धन्याऽसि या ब्रययसि ॥ ६१ ॥        |
| ८. " " " अलङ्कारेण वस्तुनः "                | दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाट ॥ ६२ ॥    |
| ९. " " " अलङ्कारस्य "                       | गाढकान्तश्शनश्चुनस्यधा ॥ ६३ ॥     |
| १०. कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुनः "  | कैलासस्य प्रथमशिखरे ॥ ६४ ॥        |
| ११. " " " अलङ्कारस्य "                      | केशेषु बलात्क रेण तेन च ॥ ६५ ॥    |
| १२. कविप्रौढो० अलङ्कारेण वस्तुनः व्यक्तिः   | गाढालिङ्गनरमसोबते ॥ ६६ ॥          |
| १३. " " " अलङ्कारस्य "                      | या स्थविरमिव हसन्ती ॥ ६७ ॥        |
| १४. कविनिबद्धवस्तुप्रौढो० वस्तुना वस्तुनः " | ये लङ्कागिरिमेसरास्त ॥ ६८ ॥       |
| १५. " " " अलङ्कारस्य "                      | सखि ! विरचदप्रमानस्य ॥ ६९ ॥       |
| १६. " " अलङ्कारेण वस्तुनः "                 | आश्रोत्रैर्करजरदनक्षतैस्तव ॥ ७० ॥ |
| १७. " " " अलङ्कारस्य "                      | महिलासद्वत्तभरिते श्व ॥ ७१ ॥      |
| १८. शब्दार्थोन्मयशक्तिमूलो ध्वनिः           | अतः द्रवन्नामरणा ॥ ७२ ॥           |
| १९. पदप्रकाशयोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यं "    | यस्य मित्राणि मित्राणि ॥ ७३ ॥     |
| २०. " " अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः "             | सलव्यवहारा दृश्यन्ते ॥ ७४ ॥       |
| २१. " " अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं "              | लावण्यं तवसौ काम्निः ॥ ७५ ॥       |
| २२. " " वस्तुनाऽलङ्कारस्य व्यक्तिः          | रधिरनिसरप्रसाधित ॥ ७७ ॥           |
| २३. " " " वस्तुनः "                         | श्रुतिमुक्तिरुदेकान्त ॥ ७८ ॥      |
| २४. " " स्वतः सम्भविना व० व० "              | साय खानमुपासितम् ॥ ७९ ॥           |
| २५. " " " अलङ्कारस्य "                      | तदप्राप्तिसमादुःखविलोना ॥ ८० ॥    |
| २६. " " " अलङ्कारेण वस्तुनः "               | क्षयदाऽसावक्षयदा ॥ ८२ ॥           |
| २७. " " " अलङ्कारस्य "                      | तव बहमस्य प्रमाने ॥ ८३ ॥          |
| २८. " " कविप्रौढोक्तिसिद्धेन व० व० "        | रात्रीषु चन्द्रवज्राद्यु ॥ ८४ ॥   |
| २९. " " " अलङ्कारस्य "                      | निशितशरधियाऽर्पयत्यनयो ॥ ८५ ॥     |
| ३०. " " " अलङ्कारेण वस्तुनः "               | वार्यमाणोऽपि पुनः सन्नाय ॥ ८६ ॥   |

# चतुर्थोल्लासः

| ध्वनेर्भेदाः   | उदाहरणः                           |
|--|-----------------------------------|
| ३१. ॥ ॥ ॥ अलङ्कारस्य ॥                                     | म गुग्गुलुद्वयमलाङ्गा धम्मिह. ॥   |
| ३२. ॥ कविनिर्दिष्टवक्तृपौढो०व०व० ॥                         | नवपूजिमासृगाङ्गस्य ॥ ८८ ॥         |
| ३३. ॥ ॥ ॥ अलङ्कारस्य ॥                                     | मसि ' तव निधुवनसमरे ॥ ८९ ॥        |
| ३४. ॥ ॥ ॥ अलङ्कारेण वस्तुन ॥                               | प्रविशन्ती गृहद्वारम् ॥ ९० ॥      |
| ३५. ॥ ॥ ॥ अलङ्कारस्य ॥                                     | ज्योत्स्नया मधुरसेन च ॥ ९१ ॥      |
| ३६. प्रवन्धेऽर्थशक्तिमूलो ध्वनिः                           | अल स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् ॥ ९२ ॥ |
| ३७. धातुरूपपदैकदेशे रसस्य ॥                                | रतिकेलिङ्गनिबसनकर० ॥ ९३ ॥         |
| ३८. नामरूपपदैकदेशे ॥                                       | प्रयान् सोऽयमपाकृतः ॥ ९४ ॥        |
| ३९. प्रत्ययरूपपदैकदेशे ॥                                   | पथि पथि शुक्लञ्चूचा० ॥ ९५ ॥       |
| ४०. सद्यसास्वदध्वनिद्वयसङ्करः                              | क्षामाधुनिका देवर आयया ॥ १११ ॥    |
| ४१. अनुमाद्यानुमाहकैक्यजनानुमवेश-<br>रूपौ सङ्गौ ससृष्टिश्च | स्निग्धद्वयमङ्कान्तिलिप्त ॥ ११२ ॥ |

## ध्वनेः परिगणनम्

१ लक्षगामूलकः  
अविवक्षित०

२ भविष्या  
विवक्षित२

१  
अर्था.  
पदं वाक्यं  
४

२  
अत्यन्त.  
पदं वाक्यं

१  
असं.  
पद १  
वाक्य २  
प्रवन्ध ३  
पदैकदेश ४  
रचना ५  
वर्ण ६

संलक्ष्य

१  
वाक्य०

२  
अर्थ०

३  
उभय०  
वाक्य १



| वस्तु १ | स्वतः०            | कविप्रौ०               | कविनि० |
|---------|-------------------|------------------------|--------|
| अलं. २  | वस्तुना वस्तु     | १ व. व. १ व. व.        | १      |
| पद ३    | वस्तुनालङ्कारः    | २ व. अलं. २ व. अलं.    | २      |
| वाक्य ४ | अलङ्कारेण वस्तु.  | ३ अलं. व. ३ अलं. वस्तु | ३      |
|         | अलङ्कारेणालङ्कारः | ४ अलं. अलं ४ अलं अलं   | ४      |

|                |    |    |    |
|----------------|----|----|----|
|                | ४  | ४  | ४  |
| पदवाक्यप्रबन्ध | ३  | ३  | ३  |
|                | १२ | १२ | १२ |

|          |    |
|----------|----|
| स्वतः    | १२ |
| कविप्रौ. | १२ |
| कविनि.   | १२ |
|          | ३६ |

|          |    |
|----------|----|
| अविषदित० | ४  |
| असं०     | ६  |
| शब्द०    | ४  |
| उभय०     | १  |
|          | ५१ |

|               |      |
|---------------|------|
| अन्योन्ययोजने | ५१   |
|               | २६०१ |

|                             |      |
|-----------------------------|------|
| त्रिरूपेण सप्तद्वारेण गुणने | ३    |
|                             | ७८०३ |

|                    |       |
|--------------------|-------|
| एकरूपया संस्पृष्टा | २६०१  |
|                    | १०४०४ |

|               |       |
|---------------|-------|
| शुद्धभेदयोजने | ५१    |
| सकलभेदाः      | १०४५५ |

इति चतुर्योहासः ।

## अथ पञ्चमोल्लासः

प्र० १—सोदाहरणा गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदा लेख्याः ।

उ० १—अगुणं गुणं भूतमिति गुणीभूतं गुणीभूतञ्च तद् व्यङ्ग्यञ्चेति गुणीभूत-  
व्यङ्ग्यम् । गुणपदेनात्र गौणं बोध्यम् । यत्र वाच्यार्थादधिकचमत्कारि व्यङ्ग्यं न  
भवेत्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति व्यवहारः । तस्य निष्ठाष्टौ भेदाः सन्ति ।

| व्यङ्ग्यभेदाः  | उदाहरणानि   | व्यङ्ग्यभेदा  | उदाहरणानि   |
|--|---|---|---|
| १. अगूढ व्यङ्ग्यम्<br>(क) अर्धान्तरम्.<br>(ख) अरयन्तनिर<br>(ग) अर्धशक्तिम्<br>२ अपरस्याहम्<br>३ वाच्यसिद्धयहम् | यस्याः सृष्टकृत<br>उन्निद्रकोकनद्र<br>अत्रासोत्पत्तिपात्र<br>अयं स रक्षनीत्वर्षी<br>अभिमानिमल | ४ अस्फुग्म्<br>५ सन्दिग्धप्राधान्यम्<br>६ तुल्यप्राधान्यम्<br>७ वाक्यशक्तिम्<br>८ असुन्दरम् | अदर्शने दर्शनोत्पत्ति<br>हरस्तु किञ्चित्परिलुप्त<br>ब्राह्मणान्तिमर्यादाः<br>मथ्नामि दीरवशनम्<br>बानीरुक्कजोड्गोन |

प्र० २—गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याऽसु भेदेषु द्वितीयस्य 'अपरस्याहम्'  
इत्याख्यस्य भेदस्य स्वरूपं, लक्षणं सप्रपञ्चं सोदाहरणं निपुणं  
निरूप्यताम् ।

उ० २—अपरस्याहमिति द्वितीयभेदं विवृणुमः । अपरस्य रसादेः इत्यादि-  
धृतिगतस्य व्याख्यानमेवम्—अपरशब्दार्थमाह—रसादेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थीभूत-  
स्येति) । रसादेरित्यत्रादिपदेन भाव रसाभास भावाभास-भावशान्ति-भावोदय-  
भावसन्धि-भावशकलतारूपस्यासंलक्ष्यक्रमस्य च ग्रहणम् । वाच्यस्य वाच्यार्थस्य  
कीदृशस्य रसादेर्वाच्यस्य वेत्याकाङ्क्षायामाह—वाक्यार्थीभूतस्येति । वाक्यता-  
स्पर्शविषयतया प्रधानस्येत्यर्थः । एवं चासंलक्ष्यक्रमम्, संलक्ष्यक्रमं वाच्यवस्तु  
चेति त्रिविधोऽत्रापरशब्दार्थः । अत्र एव अपरस्याहम् अपरस्य रसादेः स्वर्णरपे-  
क्षेण लब्धसिद्धेरूपकारकम् । तत्र रसपदम् असंलक्ष्यक्रमोपलक्षणम् । आदिना  
लक्ष्यक्रमस्य वाच्यवस्तुनश्च सङ्ग्रहः । एतेषां प्रधानानां मध्ये रसभाववाच्य-  
रूपस्य त्रिविधस्यैव प्रधानस्योदाहरणानि मूलकृताऽग्रे प्रदर्शितानि । रसाभासाद्य-  
लक्ष्यक्रमरूपस्य, संलक्ष्यक्रमरूपस्य च प्रधानस्योदाहरणानि सुधीभिः स्वयमूह्यानि ।  
अहम् उपकारकम् उत्कर्षकमिति यावत् । रसादेति । असंलक्ष्यक्रमरूपमित्यर्थः ।

## पञ्चमोऽङ्कासः.

स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढ रुढा यथा नेत्रयो  
कान्ति कोकनदानुकारसरसा सद्य समुत्सार्यते ॥

प्रणतिपरे भगवति भवे भवान्या मानभङ्गेन नेत्रारण्यनाशवर्णनमिदम् ।  
गिरिभुव पार्वत्या सा पादनखाना द्युति कान्ति व युष्मान् सदा त्रायताम्  
रत्नचित्यन्वय । कीदृशी । कैलास आलय स्थान यस्य तथाभूतस्य ( सम्भो )  
भालसम्यग्बिन्दो लोचनस्य वह्निरूपस्य रुचा अहगकान्त्या निर्वतिता निष्पादिता  
सम्पादिता अलङ्कारस्य लङ्कारस्य व्यक्ति प्रकटता यस्या तथाभूता, सानिन्या  
पादपतने सानिध्येन लङ्कारुल्लाटनेत्रप्रभासम्पर्कादिति भाव । तेन शिवस्य  
गिरिजापादपतन ध्वन्यते । सा का । यथा नवद्युत्या सुदृढ यथा स्यात् तथा  
रुढा प्रयुद्धा कोकनदस्य रत्नोत्पलस्य अनुकार सादृश्य यस्या कोकनदसदृशी  
त्यर्थ । अत एव सरसातिशयिता नेत्रयो कान्ति कोपजनिता शोणद्युति सद्य  
तत्त्वज्ञ समुत्सार्यते नि शेष दूरीक्रियते । अत्र गिरिभुव कोपान्नेत्रयो शोणा  
कान्तिरासीत् सा पादप्रणते शिवेऽपगतेति तत्त्वम् । तत्रेदमु प्रेक्ष्यते । स्पर्धाया  
विजिगीषाया बन्धेन सातत्येन समृद्धयातिदीप्तयेव ।

अत्र किं कस्याङ्गम् इति चेत् त्रायतामि यत प्रतीतस्य कविनिष्ठस्य पार्वती-  
विषयकरत्याद्यभाषस्य महादेवनिष्ठ पार्वतीविषयक सम्भोगरूप शृङ्गार  
अङ्गम् । तस्य शृङ्गारस्य भावप्रकर्षार्थमेवोपादानात् पुष्टविभाषाद्यप्राप्त्याऽ  
पुष्ट्याश्च रसस्य भावाङ्गता । अत्रापि रसबद्धशृङ्गार एव ।

भावस्य भावाङ्गता यथा—

अत्युच्चा परित स्फुरन्ति गिरय स्फारास्तथाम्भोधय  
स्तानेतानपि विभ्रती विभपि न ह्रान्तासि तुभ्य नम ।  
आश्चर्येण मुहुर्मुहु स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव  
स्तावद्विभ्रदिमा स्मृतस्तव भुजो नाचस्ततो मुद्रिता ॥

पञ्चाक्षरीनामा कवि अनेन श्लोकेन भोजराज स्तुतवान् । हे पृथ्वि, अत्युच्चा  
अत्युन्नता गिरय पर्वता परित सर्वत स्फुरन्ति समन्ताद् व्याप्य तिष्ठन्ति ।  
एवम् स्फारा अतिविस्तृता अम्भोधय समुद्रा तथा स्फुरन्ति । हे पृथ्वि  
तानेतान् गिरिसमुद्रान् विभ्रत्यपि धारयन्त्यपि त्व किमपि किञ्चिदपि न ह्रान्ता  
ह्रान्तासि अत तुभ्य नम इति भुव पृथिव्या स्तुतिम् आश्चर्येण यावत् मुहुर्मुहु

## काव्यप्रकाश रहस्यम्

चारवार प्रस्तौमि तावत् । हे राजन् इमाम् एतद्विनिष्टा भुव मिश्रत् पालयन्व  
मिश्रत् धारयन्नेव तव भुज स्मृत ( न तु भुजौ ) तव भुजस्मरणात् वाच  
पृथ्वीस्तुतिरूपा मुद्रिता सङ्कुचिता इति वाच्यार्थः ।

अत्र भूविषयक कविनिष्ठो रतिभावो राजविषयस्य कविनिष्ठस्य रति  
भावस्याङ्गम् ।

रसाभासभावाभासयो भावाङ्गता यथा—

यदीक्ष्य नृप द्विषां मृगदंष्ट्रा परयता प्रेयसां  
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति स्थाति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।  
अस्माकं सुकृतैर्दशोर्निपतितोऽस्यौचिचारांनिधे  
विष्वस्ता निपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रयर्थिभिः स्तूयसे ॥

कश्चित् कवि राजानं स्तौति । हे नृप ते तव सैनिका भद्रा येषां द्विषा  
शत्रूणां मृगदंष्ट्रा कातरतया मृगसदृशदृष्ट्य श्लिष्यन्ति यदीक्ष्य हठादादृष्ट्य परयत  
तप्पियतमाननादयः सा मृगदंष्ट्रा श्लिष्यन्ति आलिङ्गन्ति प्रणमन्ति नमस्कृवंति  
स्थाति गृह्णन्ति चुम्बन्ति च । इधमनुचितप्रवर्तयितापि स्व तैः प्रयर्थिभिः स्तूयसे  
हे औचिचारांनिधे औचित्यसमुद्र त्वम् अस्माकं सर्वेषां सुकृतैः पुण्यैः दशो  
निपतितोऽसि । तत् तस्मात् त्वदर्शनात् अखिला विपद् अस्माकं ध्वस्ता भद्रा  
इति वाच्यार्थः ।

अत्र प्रथमार्धे सैनिकनिष्ठ शृङ्गारोऽननुरञ्जनीविषयकतया परस्त्रीविषयक  
तया च प्रवृत्त द्वितीयार्धे तु प्रत्यर्थिनिष्ठो रतिरूपो भावः प्रकृतराजरूपशत्रु  
विषयकतयाहार्यत्वेन प्रवृत्तः । एवमनीचिचरप्रवर्तितबाहुभावपि रसाभासभावा  
भासौ राजविषयस्य कविनिष्ठस्य रत्यारयभावस्याङ्गभूतौ ।

भावशास्तेर्भावाङ्गता यथा—

अविरलकरवालकम्पनञ्जुकीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।

ददशे तव वैरिणां मदः स गतः कापि तवेच्छणे क्षणात् ॥

हे राजन् अविरल निरन्तर करवालस्य खड्गस्य कम्पनैः अङ्कुटीकरणकैः तर्जनैः  
त्रिभिर्भिन्नीकृतवाक्यरूपैः हुङ्कारसिंहनादरूपैः गर्जनैः तव वैरिणां यो मदः  
अस्माभिर्मुहुर्मुहुः चारवार ददशे दृष्टः । स तवेच्छणे तव दर्शने सति क्षणात्  
गतापि गत इति वाच्यार्थः ।

## पञ्चमोऽङ्काः

अत्र वैरिणो मद्भाष्यो गर्वरूपो भावस्तस्य प्रथमं शान्तिं कविने  
विषयकरतिभावेऽङ्गम् ।

भावोदयस्य भावाङ्गता यथा—

साकं कुरङ्गदृशा मधुपानलीलां कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।  
अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥  
हे विभो प्रभो रात्रन् ते तव वैरिणि रात्रौ कुरङ्गदृशा बालमृगनेत्रया  
( कान्तया ) सुहृद्भि स्निग्धैरपि साकं सार्धं मधुपानलीलां मधुपानरूपां म्रीडां  
कर्तुं प्रवृत्ते सति अन्याभिधायि अनेकार्थकतया त्वद्विषयस्यापि बोधकं तव नाम  
केनापि जनेन गृहीतम् उच्चारितं सत् तत्र वैरिणि म्रीडामन्दिरे विषमा  
कम्पादिकर्त्रीन् अवस्थां दक्षामकरोत् इति वाच्यार्थः ।

अत्र विषमावस्थायङ्ग्यस्य शास्त्ररूपभावस्योदय कविनिष्ठस्य रात्रिविषयकस्य  
रयास्यभावस्याङ्गम् ।

भावसन्धेर्भावाङ्गता यथा—

अमोडा तत्कालोत्पन्नसहभावस्य तपस  
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकं सौलुहितुम् ।  
प्रमोदं वो दिरयात् कपटवद्वेषापनयने  
त्वरार्षैषिह्याभ्यां युगपदभियुक्तं स्मरहरम् ॥

तप कुर्वतीं पार्वतीं वदुवपेण छलयतो महादेवस्य वर्णनमिदम् । कपटेन  
छलेन यो वटोर्ग्रन्थारिणो वप आकारविशेष तस्य अपनयने त्यागे युगपत्  
समकालमेव त्वराक्षैषिह्याभ्यामभियुक्त आक्रान्तं स्मरहरं शिवं च युष्मभ्य  
प्रमोदम् आनन्दं दिरयात् दद्यात् इति वाच्यार्थः । त्वराक्षैषिह्ययोर्हेतुगर्भं विशेष-  
पणे अमोदेति चरणद्वयेनाह—तत्काले पार्वत्या बालत्वकाले उत्पन्नम् प्रादुर्भवन्  
असहभात्रो दुःसहत्वम् यस्य तादृशस्य तपस अमोडा सोढुमममर्थो यः फलदाने  
विलम्बयितुमर्हम् इत्यर्थः । 'अथ' च समुच्चये सौलुहितुं पार्वत्या कथाविश्र-  
म्भेषु (विश्रस्ततया) प्रगयेषु वा रसिकं प्रीतिमान् स्मरजेतापि या इष्टा यत्क-  
थयाऽऽवृष्टचित्तं कृतं इति वाच्यार्थः ।

अत्र स्मरहरगतयो त्वरापदक्षैषिह्यपदगम्ययोरान्वेगधैर्याख्ययोः भावयो  
सन्धिः कविनिष्ठस्य शिवविषयकरतिभावस्याङ्गम् ।

## काव्यप्रकाश रहस्यम्

भावशबलताया भावाद्गता यथा—

पर्यक्श्चिञ्च चपल रे का त्वराऽह कुमारी  
हस्तालग्न वितर हहहा न्युत्क्रम फासि यासि ।  
इध पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्ते  
कन्या कचित् फलसिलयान्याददानाऽभिधत्ते ।

किञ्चिदुन्निन्नयौवनाया प्रकृतनृपविरोधिवननिवासिनृपकन्याया फलाद्याहरण  
समय कस्मिंश्चि कामुके जातानुरागाया उत्तिर्वर्जनमिदम् । हे पृथ्वीपरिवृढ भूस्वा  
मिन् राजन् अरण्ये वृत्तिर्वर्तन यस्य तत्सारण्यवृत्ते भवद्विद्विष एवञ्चत्रो  
कन्या कुमारी फलानि सिलयानि कोमलपल्लवाश्च आददाना वृहन्नी सती  
कचित् कामुकम् इ धमभिधत्ते । कश्चिन् जन पर्येदिति शङ्का, रे चपल स्वच्छन्दा  
चरणशील चल अपसर इति असूया । का त्वरेति सत्वर पिगमिपावारणायव  
धति । नह कुमारी इति मम नैवविध स्वातन्त्र्यमुचितम् इति स्मरणम् । हस्त  
रूपमालम्बन वितर देहीति श्रम । हहहेति दैन्यम् । न्यु क्रम कन्यागमनरूप  
विपरीताचरणम् । अय विरोध । असि इति स्वमर्त्ये विभक्तिप्रतिरूपकमभ्ययम् ।  
एव छ कुत्र यासि इति नौत्सुक्यम् । अत्र शङ्काऽसूयाधृतिस्मृतिश्रमदैव्यविवो  
धौत्सुक्याना शबलता नृपविषयके रतिभावेऽङ्गम् । एते एव गुणीभूता रसादय  
रसवदाद्यलङ्कारव्यपदेश लभन्ते । रसव प्रेयऊर्णस्विसमाहितभावोदयभावसन्धि  
भावशबलताश्चेति रसवदादयो येऽलङ्कारा पूर्वमुक्तास्तेऽत्रोदाहृता ।

मनु 'गुणीभूतो रसो रसवत् भावस्तु प्रेय रसाभासभावाभासौ ऊर्णस्वि,  
भावशान्ति समाहित' इत्यस्यैव पूर्वेषामलङ्कारव्यवहार । अतो रसादिचतुष्ट  
यस्य रसवदाद्यलङ्कारव युक्तम् न तु भावोदयादीनाम् इयाशङ्कयानुवदति ।  
यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतयोक्तानि तथापि कश्चिद्  
मूयादित्येवमुक्तम् । नालङ्कारतयोक्तानि व्यक्तिविवेकृद्भिर्महिमभट्टै स्वे विवरणे ।  
श्रीम-मम्मन्मते रसवदादीनामपि नालङ्कारत्वम् । परमतमेतदत्रानूदितम् इति ।

अथ शब्दशक्तिमूलानुरगनरूपोपमालङ्कारस्य ( लक्ष्यक्रमस्थ ) वाच्याङ्गता  
यामपराङ्गव्यङ्ग्य मध्यमकाव्यमुदाहरति—जनस्थाने इति ।

जनस्थाने भ्रान्त कनकमृगतृष्णान्वितधिया  
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।

## पञ्चमोऽङ्काः

कृता लङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु

घटना

मयास रामत्व कुशलवसुता न त्वधिगता ॥

राजसेवानिविग्नस्य कवेरुक्तिरियम् । पद्यस्य व्याख्यानमेवम् । मया रामत्व रामधर्म आप्तं प्राप्त परन्तु कुशल परिणामसुरसम् उद्वेगनिरासनिपुण वा आयति शुद्ध वा वसु धन यस्य तद्भाव कुशलवसुता सैव कुशलवौ सुतौ यस्या इति प्युपत्त्या सीता सा तु नाधिगता न प्राप्ता रामत्व कथं प्राप्तं तदाह—कनकस्य सुवर्णस्य मृगो मार्गणम् ( अन्वेपणम् ) प्रार्थना वा यत्र या तृष्णा । अथवा कनके वा या मृगतृष्णा निष्फलाशा सैव कनकमृगे मारीचे तृष्णा तथा अन्धिता विवेकरहिता धीर्यस्य तादृशेन मया । यद्वा अन्धितया धिया जनानां स्थाने प्रामनगरादौ भ्रान्त भ्रमणमेव जनस्थाने दण्डकारण्ये भ्रमणं तत् कृतम् । वै निश्चयेन देहि प्रपद्य इति वचं वचनमेव वेदेहीति सीतासम्बोधनवचनम्, तत् प्रनिपद प्रतिस्थानम् उद्धृतम् उद्धृतम् अथु अथुपत् यत्र तद्यथा भवति तथा प्रलपितं वृथैवोक्तम्, भर्तुं भरणकर्तुं घनिकस्य परिपाटीषु सेवारचनासु अलम् अर्थं का घटना न कृता वद । अथवा काभर्तुं कुतिसिभर्तुं वदनपरिपाटीषु मिथ्याभाषणप्रकारेषु घटना उपपत्ति सा एव लङ्काभर्तुं रावणस्य वदनपरि पाट्या मुखपट्टी इषुघटना शरसंयोजनसा अलम् अर्थं कृता इति श्लेषोपस्थित- पदार्थानामभेदारोपाद्भ्रामोपपत्ति इति वाच्यार्थः ।

अत्र शब्दशक्तिमहिम्ना पादत्रयद्योत्या प्रकृताप्रकृतयो कवयितुरामयो उपमा मयास रामत्वम् इति वाच्याया रामवप्राप्तेरपकारकनयैव कवेरभिप्रेतेति उपमाया वाच्याङ्गत्वम् । उपमानोपमेयभाव सादृश्यम् । जनस्थानादानां परिवृत्तसहस्रात् शब्दशक्तिमूलता । 'रामत्वमाप्तम्' इत्यनेनैव वाच्यार्थसिद्धि- रिति नोपमाया वाच्यसिद्धेरङ्गत्वम् । इवाद्यभावेनोपमाया वाच्यत्वाभावाच्चात्रोप- मालङ्कार किन्तु मध्यमकाव्यमेव ।

अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य ( लक्ष्यक्रमस्य ) वस्तुनो वाच्याङ्गतायामपराङ्- म्यङ्ग्य मध्यमकाव्यमुदाहरति । आगत्येति—

आगत्य सम्प्रति वियोगविसृष्टुलानीमम्भोजिनीं कचिदपि क्षयितत्रियाम् ।

एता प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते तन्वद्भिः पादपतनेन सहस्ररश्मि ॥

मौढ्याद्विनैवानुनयं त्यक्तमानां प्रति सरया उत्तिरियम् । हे तन्वद्भिः कचि-

दपि कचिदेव ( द्वीपान्तरे एव नायिका-न्तरगृहे ) वृषिता अतिवाहिता त्रियामा रात्रिर्धनं तथाभूत सहस्ररश्मि सूर्य सम्प्रति अधुना प्रभाते जाते सति शनैः अतिभीत इवातिलज्जित इव मन्द मन्दम् आगत्य एनाम् अम्भोजिनीम् कमलिनी मेव नायिकां पादपतनेन किरणसयोगेनैव चरणपतनेन ( प्रणामेन ) प्रसादयति विकासयति एवानुनयति । एतत् पश्येत्स्यन्त्रय । कीदृशीम् त्रियोगे द्वीपान्तरे-सूर्यस्य सञ्चारणे यस्तेन सम्बन्धाभावः स एव त्रियोगो विरहः तेन त्रिसङ्घुटाङ्गीं सकुचिताङ्गीमेव सन्तापकार्यादिना विषमाङ्गीमित्यर्थः ।

अत्र विनैवानुनयमपगतमाना नायिका सरया उपालभ्यते । तथाहि सहस्र रश्मिरित्यनेन बहुनायिकावत्त्वं ध्वन्यते । अम्भोजिनीमि यनेन वर्णाया पद्मिनी त्वम् । कचिदपि कचिदेवेत्यनेन उपनायिकागृहे एवति निश्चयाभाषः । तत्रापि यामत्रयमेव न त्वधिकम् एव चेदृशोऽपि ईदृशीं स्वयमेवागत्य पादपतनेनानुनयति ईदृशो हि कामिनोऽर्थवद्धारः । ख पुनर्वहुतरकाल परन्तायिकासत्ते धूर्ते विनैवा नुनयमानं त्यक्त्वा प्रसङ्गाऽसीत्युपालम्भः । एवञ्च भागकनायिकावृत्तान्त कथनमेवाभिप्रेतम् स च वृत्तान्तो व्यग्यमानः, वाच्ये रविकमलिनीवृत्तान्तेऽभिमतया च आरोप्यमाणस्तस्य प्रकृतार्थता सम्पादयन् तदुत्कर्षमाधत्ते इत्यङ्ग सयैवास्ते । अयमेव समासोक्त्यलङ्कारः । एतत्सर्वमभिप्रेत्याह वृत्तौ । नायकवृत्तान्त नायिकेत्येकशेषः । नायकनायिके इत्यर्थः । वृत्तान्तो व्यवहारः वस्तुरूपः । यत्र स्वातन्त्र्येण धर्मिद्वयमवगम्यते तत्रैकधर्माव्यये सति उपमाङ्गीकारात् एव धर्मिद्वया चगतादेव तादात्म्यारोपे रूपकाङ्गीकाराच्च रूपकमपि व्यङ्ग्यं किन्तु वस्तुरूप एवेति भावः । यद्यपि पादशब्दस्य श्लिष्टत्वात् परिवृत्तसहस्रत्वात् शब्दशक्तिमूलत्वं सम्भवति तथापि अर्धशक्तिमूलत्वेन व्यपदेशः । परिवृत्तिसहस्रत्वादावाहुत्वात् तेषां प्राधान्याच्च । प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्तीति न्यायात् । रविकमलिनीवृत्तान्तस्य नायकनायिकावृत्तान्तनिरपेक्षत्वात् अप्रकृतनायकनायिकावृत्तान्तोपस्थितिं त्रिनापि वाक्यार्थस्य पर्ववसानात् न वाच्यसिद्धयङ्गत्वम् अपि तु प्रतीतस्य वाच्यस्य व्यङ्ग्येन शोभामात्रमाधीयते इत्यपराङ्मत्त्वमेव । यत्र पुनर्व्यङ्ग्येन विना वाच्यमेवात्मानं न लभते तत्र वाच्यसिद्धयङ्गत्वमिति व्यङ्ग्यस्यापेक्षनिरपेक्षसिद्धिभ्यामनयोभेदः अध्यारोपेणैव उत्कर्षकतयैवेत्यर्थः । एव च वाच्यरविकमलिनी- स्थितं न तु प्रधानतया इति ।



## पञ्चमोऽङ्कासः

प्र० ३—व्याख्यायतां निम्नोद्धृता पदपङ्क्तिस्तत्प्रयोजनपुर सरम्-  
‘यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषय यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभे-  
दादिभिः सह सङ्कर ससृष्टिर्ना नास्ति तथापि प्राधान्येन व्यपदेशा  
भवन्तीति क्वचित्केनचिद् व्यवहारः’ ।

उ० ३—ननु ‘अयं स रशनोत्कर्षः’ इत्यत्र प्रकरणगम्यस्य करुणस्य प्राधा-  
न्येन सम्भवति ध्वनित्वे कस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्याशङ्कते—‘यद्यपि स’ इत्यादि ।  
यद्वा ननु रसध्वनौ भावध्वनिरवश्यं वाच्यः । तथा च कञ्चन प्रधानव्यङ्ग्यमादाय  
ध्वनित्वं कञ्चनाभूतमादाय गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति निमित्तद्वयसमावेशाद्विनि-  
गमनाधिरहे कथं व्यपदेशनियम इत्याशङ्कते—यद्यपि स इत्यादि । कश्चिद्विषय  
कश्चिदाश्रय ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः उत्तममध्यमकाम्ययोः स्वप्रभेदादिभिरिति ।  
स्वसत्त्वेन ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्ग्रहणम् । प्रभेदोऽवान्तरभेदः । आदिपदेन  
विज्ञातीयप्रभेदपरिग्रहः । सङ्कर अङ्गाङ्गित्वात् । द्वयोः प्राधान्ये ससृष्टिः । सर्वत्र  
रसध्वनौ भावध्वने सध्वने तयोरुपकार्योपकारकतया सङ्करापत्तिः । अवान्तर-  
ध्वनीनां प्रधानध्वनिरूपेतराङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य चापत्तिरिति यद्यपि  
साङ्ख्यार्थिकमस्ति तथापि ‘प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती’ति व्याप्तेन यत्र  
यस्मिन्नेन चमत्कारस्तत्र तेनैव व्यवहारः । प्राधान्यं च चमत्कारप्रयोजकत्वम् ।  
तथा चाङ्गीभूतरसादीनां चमत्कृत्यातिशये गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमङ्गिनस्तथावे ध्वनि-  
त्वमिति भावः । एवञ्च ‘अयं स रशनोत्कर्षः’ इत्यादीं करुणध्वनावपि गुणीभूत-  
व्यङ्ग्यपञ्चद्वारेणैव चमत्कार इति तेनैव व्यवहारो न ध्वनित्वेन सहद्वयद्वय-  
साक्षिकः । एतेनोक्तोदाहरणे मुख्यत्वेन करुणस्यैव प्राधान्यमिति निरस्तम् ।  
भङ्गावरणने कवे सरम्भात् ।

प्र० ४—‘एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववद्’ व्याख्यायता  
मिदं सूत्रार्थं घृत्युक्तं यथनविशेषं लक्ष्यीकृत्य ‘वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो  
व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्’ इति ।

उ० ४—अनेनोक्तानामष्टानामेव गुणीभूतव्यङ्ग्यधानामवान्तरभेदानाह—एषा  
मिति । शुद्धभेदानाह—एषामिति । एषामुक्तप्रकाराणां गुणीभूतव्यङ्ग्यधानां भेदा  
पूर्ववत् ध्वनिभेदवत् यथायोगं यथासम्भवं वेदितव्या बोद्धव्याः । अयं भावः ।  
न केवलमेते अष्टावेव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदाः । किन्तु अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य-

त्वादिभिरपाधिभिः यथा ध्वनेर्भेदास्तथाऽसम्भविनो विहायास्यापि तैरपाधिभिः शुद्धभेदाः सङ्करसंसृष्टिभ्यां योजने च तेषामिवैषां च सङ्कीर्णभेदा अपि योद्मव्याः । असम्भविनश्च वस्तुमात्रेणालङ्कारनिबन्धनाः । एवञ्च यत्र वस्तुनाऽलङ्कारव्यक्तिरत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं मा प्रसाङ्गीदिति यथायोगमित्युक्तं शेषम् । तत्र प्रतिकारसम्मतिमाह—‘व्यज्यन्ते’ इति । यथा ‘व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कृतवस्तदा । ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यकृत्तेस्तदाधयाद्’ ॥ इति । अथ व्याख्यानम् । यदा वस्तुमात्रेण वाच्यालङ्काररहितेनालङ्कृतयोऽलङ्काराः व्यज्यन्ते तदा तासामलङ्कृतीनां ध्रुव निश्चयेन ध्वन्यङ्गता ध्वनिव्यवहारप्रयोजनता । पाठ्य-धस्त्वपेक्षयाऽलङ्काररूपेणैवातिशायितया ध्वनिप्रतिर्वाहकतेति यावत् । कुतः काव्यवृत्तः काव्यव्यवहारस्य तदाधयात् अलङ्कारसापेक्षत्वादित्यर्थः इति ध्वनि-कारोक्तदिशा न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति । अयं भावः । वाच्यालङ्कारानुलोम्यालङ्कारस्य चारत्वनियमेन भगवद्गतादिना व्यङ्ग्यत्वाधीनचारत्वापनयेऽपि अलङ्कारवृत्ता चारुता अभ्याहृतैवेति सर्वत्र वस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारस्थले ध्वनिस्त्वमेव न गुणीभूतव्य-ङ्ग्यत्वम् । वस्तुमात्रेण इत्यनेन वाच्यालङ्काररहितेनेत्यर्थः । तत्सहितवस्तुनाऽलङ्कारव्यङ्ग्ये यत्र तु वाच्यालङ्कारापेक्षया व्यङ्ग्यत्वस्य तस्य चारुतं तत्र ध्वनिप्र-मेय । यत्रालङ्कारव्यङ्ग्यालङ्कारस्य चारुतं तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव तथा च वस्तुव्यङ्ग्यालङ्कृतिभेदहीनः द्विचत्वारिंशद्विधः शुद्धो गुणीभूतव्यङ्ग्यमेव ।

एवञ्च स्वतः सम्भावितविप्रीत्योक्तिसिद्धकनिषद्वचनूप्रीत्योक्तिसिद्धवस्तु-व्यङ्ग्यालङ्काराणां पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन त्रिरूपतया वस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारस्य नप-त्रिधात्वमिति ध्वनिभेदैकपञ्चाशतो ( ५१ ) नवम्यूनेन ( ५१-९ ) अष्टानां भेदानां प्रत्येकं द्विचत्वारिंशद्विधत्वं ( ४२ ) मिनि मिलित्या गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्य पट्त्रिंशदधिकत्रिंशत ( ३३६ ) भेदाः (  $४२ \times ८ = ३३६$  ) शुद्धाः । एवमस्य संसृष्टिमङ्कराभ्यां (  $३३६ \times ४ \times ३३६ = ४५१५८४$  ) चतुरशीत्यधिकपञ्चाशता-धिकैकपञ्चाशत्सहस्रोत्तरचतुर्लक्षभेदाः संकीर्णाः शुद्धभेदैः सह (  $४५१५८४ + ३३६$  ) विंशत्यधिकनवशतोत्तरैकपञ्चाशत्सहस्राधिकचतुर्लक्षभेदाः (  $४५१९२०$  ) । गुणन-प्रकारस्तु ध्वनिस्थलीयोलङ्काराद्यमेव इति ।

प्र० ५—‘सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च’ इति सूत्रस्य व्याख्याने वृत्तौ मूल-  
ग्रन्थे कथितं तावत् ‘शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम् । का  
गणना तु सर्वेषाम् ? सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः । व्यङ्ग्यस्य  
त्रिरूपत्वात्’ इत्युक्त्वा कथं तत्रैविध्यं प्रदर्शितम् ? तथा च यैः प्रति-  
पक्षिभिः ‘ननु व्यञ्जनायाः शशविषाणायमानत्वात् कुतो व्यङ्ग्यत्रैरूप्य-  
कृतो भेदः’ इत्युक्त्वा व्यङ्ग्यं व्यञ्जनाध्यापार एव वा शब्दस्य न स्वी-  
क्रियते तेषां मते का विप्रतिपक्षयस्तथा च तासां विप्रतिपक्षीनां निरास-  
श्च ग्रन्थे कथमुपदर्शितः. इत्येतत् सर्वं समासेनानूद्यताम् ।

उ० ५—सालङ्कारैरिति । ‘आगत्य सम्प्रती’त्यादिगुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणे  
स्थितैः समासोक्त्यादिभिः अलङ्कारयुक्तैर्गुणीभूतव्यङ्ग्यदैर्वा गुणेन तेषां चैकरूपया  
समुष्टया त्रिविधेन सङ्करेण गुणेन पुनः परस्परं योगे निष्पन्नमंख्याया अतिशङ्क-  
ष्येन संख्यातुमशक्यत्वात् संचेषविस्तराभ्यां शास्त्रप्रवृत्तिरित्युक्तदिशा संचेषेण  
गणनाप्रकार उच्यते । सङ्कलनेन पुनरिति । वस्तुवल्ङ्काररसरूपत्वेन ध्वनेस्तावत्  
त्रैविध्यम् । तत्रापि किञ्चिदभिधया वक्तुं शक्यम् । किञ्चिदन्वयेति द्वैविध्यमेव ।  
तत्र वस्तुवल्ङ्कारयोः शक्तिप्रतिपाद्यत्वमस्ति । रसस्य व्यङ्ग्यत्वाच्च शक्तिप्रतिपा-  
द्यत्वम् । तस्य रसशब्देन शृङ्गारादिशब्देनाऽनभिधानादभिधाने च प्रत्युत  
दोषस्यैव वक्ष्यमाणत्वात् । ‘शून्यं वासगृहम्’ इत्यादी रसादिपदानामप्रयोगेऽपि  
विभावादिघटितसामग्र्याः सत्त्वेन रसोत्पत्तेर्दर्शनाद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभा-  
वाविसामग्रीसत्त्वे रसचमत्कारविषयत्वमिति निर्णयिते । लक्षणाहेतूनां मुख्यार्थ-  
याधादीनामभावात् रसस्य लक्षणीयत्वं वक्तुमशक्यम् प्रतीतेश्च सकलजनसं-  
वेद्यत्वात् वृत्तिं विना बोधादर्शनाद् व्यञ्जनानामिका वृत्तिः रसप्रत्यायनायावश्यं  
कल्पनीयेति रसस्य व्यङ्ग्यत्वम् ।

लक्षणाभूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये ‘त्वामस्मि’—‘उपकृतमि’त्यादी रूढ्यभावा-  
त्प्रयोजनवत्यां प्रयोजनस्य व्यञ्जनाव्यापारगम्यत्वमेवेत्युक्तं प्रागिति वस्तुमात्ररूपं  
व्यङ्ग्यमवश्यमपेक्षितमिति तन्मूलकत्वादेव वस्तुध्वनिरिति व्यवहारः । शब्दशक्ति-  
मूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनाभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य  
च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् । अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्थलेऽपि अभिहिता-  
न्वयवादिमते घटादिपदानां घटव्यक्तिमात्रबोधनेनोपक्षीणानां समीपस्याच्छिद्रा-

दिप्रतीतौ च आकाङ्क्षाद्योष्यतादीना कारणत्वं वाच्यमिति वाक्यार्थोऽप्यपदार्थस्तत्र  
 मृतीयकत्वाया प्रतीतस्य व्यङ्ग्यार्थस्य कथमभिधाजन्यप्रतीतिविषयत्वं वत्  
 शक्यते । अन्वितामिधानवादिन 'विषयतासम्बन्धेन शब्दबुद्धिर्वावच्छिन्न प्रति  
 विषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थिति कारणम्' इति सामान्यतः कार्य  
 कारणभावमाहुः । ततश्च सस्य शक्तिविषयताया अभावे शब्दविषयताया  
 अस्मभवात् । तत्रापि पदानां शक्तिमेव स्वीचकृ । उपपत्तिं चात्र वदन्ति ।  
 शक्तिग्रहकेषु मुख्यो व्यवहार एव कोशासत्वाक्यादिभिरपि शक्तिग्रहो बहुष्वन्द्यपु  
 पदेषु शक्तिं जानतामेव सम्भवति । यो हि नारायणपदार्थं न जानाति इदं  
 पदार्थं वाच्यत्वपदार्थं वा स 'विष्णुनारायणं कृष्ण' इति कोशाद्वा 'अयं घटपद  
 वाच्य' इति आप्तोपदेशाद्वा विष्णुपदस्य घटपदस्य वा शक्तिं ज्ञातुं न शक्नोति ।  
 व्यवहारेण तु सर्वथा शक्तिज्ञानशून्योऽपि ज्ञातुं शक्नोति । तद्यथा—स्वामिना भृत्य  
 प्रति 'घटमानय'त्युक्ते तटस्थोऽन्योऽन्युपपन्नस्तदीय शब्दं शृणोति । वक्तारं भृत्य  
 घटं चावलोकयति । भृत्यस्य च प्रवृत्तिं परयति । तथा प्रवृत्त्या तदामनि इति  
 मनुमिनोति । कृत्या चिकीर्षां, चिकीर्षया इष्टसाधनत्वज्ञानम् । स्वशरीरप्रवृत्तौ तेषां  
 निषमदर्शनादनन्तरं च तस्मिन् इष्टसाधनत्वज्ञाने एतद्वाक्यजन्यत्वज्ञानमेतद्वाक्या  
 रूपमविद्यमानत्वे सति एतद्वाक्योत्तरत्वादिति हेतुनाऽनुमिनोति । ततश्च  
 घटानयनं मद्विष्टसाधनमिति भृत्यसमवेते ज्ञाने एतद्वाक्यजन्यत्वज्ञानमेवास्त्वद्वा  
 क्यार्थयोः प्राथमिकं शक्तिग्रहः । अज्ञानयोर्वाक्यवाक्यार्थयोः सम्बन्धाभावे  
 एतद्वाक्याधीना एतद्वाक्यप्रवृत्तिर्न स्यादियथापत्तेरासारः । स च सम्बन्ध  
 'इदं वाच्यं वाचकम् अयमर्थः वाच्य' इत्येतन्मात्रकारकं एकत्र वाच्यमन्यत्र वाचक  
 चेयन्तर्भाष्यं ज्ञायते चत्पुनर्बोधनियमो न प्राप्नोति । अतः वाच्यवाचकभावरूप  
 सम्बन्ध एवानयो इत्यग्नी द्वयात्मकः । अनन्तरं पदान्तरापोद्वापाभ्यामान  
 यनाद्यवधारणेऽपि घटादिज्ञानेन साकं यथानियमस्तथा सम्बन्धज्ञानेनपि । नहि  
 केनापि अमग्न्यद्वा घटं भृत्यप्रवृत्तिविषयं 'गौरव पुरतो हस्ती'त्यादि  
 प्रतिपादकमात्रं स्वामिनोक्तं भृत्यप्रवृत्त्यदर्शनात् । ततश्चानयनादिरिव धर्म  
 स्वादेरपि ससर्गस्य 'धर्ममानय, धर्मेनानय, धर्मे आनय'त्यादौ व्यभिचारदर्शनं-वि  
 सम्बन्धसामान्यस्याव्यभिचारात् पदार्थान्तरसम्बन्धा 'धर्मे घटपदवाच्य' इत्येव  
 शक्तिग्रहाकारं पर्यवस्यति । अत एव न शक्यानन्यं तथा न पदान्तर  
 पर्यवर्त्यमपि । एव स्थिते लाघवेन बाधादिना शब्दयोधीयाया घटत्वावच्छिन्ना या

## पञ्चमोऽङ्काः

विषयताया वस्तुतः अच्छिद्रसमीपस्य नृपसि वेश्चि यथा घटनिष्ठविषयताया अभिधाप्रयोज्यत्वे नानुपपत्तिः, तथा समर्गवावच्छिन्नाया विषयताया वस्तुतः कर्म वादिमसर्गविशेषनिष्ठवदपि नाभिधाप्रयोज्यतावाधः । एतन्मते अवच्छेदकानां सामान्यमवच्छेदकानां विशेषश्च शक्तिविषय इति फलितम् ।

अच्छिद्रवादी सङ्केताभावोऽपि घटव्यवस्थामान्ये वस्तुन अच्छिद्रघटविशेष च सङ्केतप्रदात् एव ससगोऽपि । एतावता प्रबोधेन सम्बन्धात् पदशक्तिमाधनेन पदान् पदार्थविभागेन सह सम्बन्धविभागात् नित्यविशेषस्य शक्त्या बोधनोत्तरं च पश्चादन्योऽर्थः प्रतीयते तत्र शक्तिविषयता न सम्भवति पदार्थापारस्योपस्थात्वात् । कार्याकारण गम्यत इति घटपदानन्तरं घटबोधदर्शनं यथा घटपदं तद्बोधजनकरूपं शक्तिरनुमीयते तथा निरूपे त्यादी तदन्तिकमेव गतासाति प्रताया सङ्जनकत्वं तस्मिन्वाक्यं कल्पनीयमेव बोधजनकत्वं शक्तिरित्यलं व्यञ्जनं श्रीशङ्करस्याशयः । समाधाता तु शक्तेर्विषयमुपपादयन् पदनिष्ठशक्तेस्वरूपसत्या अकारणवाच्छक्तिप्रहस्यापक्षितत्वात् शक्तिप्रहस्य च पूर्वमभाव कथमभिनवकविविचिन्तितार्थैस्तादृशार्थप्रतानिरिति तत्प्रतीतये शब्दगत अभिधाभिन्न व्यञ्जनादयो व्यापार आचरयक इत्याह ।

कंचन मामासका — तापर्यबोधजनकरूपाया अभिधाया एव व्यापारविशेष मन्यमाना अर्थवाद्वाच्यानां प्राप्तेऽपि निन्द्याया वाऽशक्त्यापामपि बोधोपयोगि वमालोचयतस्तत्तद्देव तापर्येणैव व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिसिद्धे अलं व्यञ्जनं यस्याक्षिपति । तेषामयमाशयः — घटवावच्छेदे नहि प्रामाण्यमियते । न च 'शृणोत प्रावाण' 'प्रनापतिरामनो वषामुद्वह्य' दिव्यादिवाधितार्थकानां प्रामाण्यं सम्भवति । 'अग्निर्हिमस्य भयनं मित्रादीनामवाधितार्थकानामपि तदर्थस्य लोकावगमं वात् अनधिगतार्थविषयकबोधजनकरूपं प्रामाण्यस्यासम्भवं एव । अतस्तेन प्रवर्तनीयत्रिधाया निवर्तनीय वा विषये प्राप्तानिन्दान्यतरबोधने एव तापर्यम् । एव व्यङ्ग्यं रसादावपि भविष्यति । तत्रेदं वक्तव्यम् — नातिगुणद्रव्याणां लोकावगमवादिषिन्नावपि तद्बोधकानां पदानामनधिगतार्थविषयकप्रतानिजनकप्रामादेऽपि प्रवर्तनायक्रियान्वयन क्रियाविशेषबोधनादनधिगतार्थेयादि वक्तव्यम् । नहि बाहिर्भिर्यत्त इत्युक्ते बाहिस्वरूप प्रागनवगतं किन्तु याग एव । अतः स एव अपूर्वबोध्यत्वेन विधेयः । तदाह सूत्रकारः भावार्था कर्म

शब्दाः तेभ्यः क्रिया प्रतीयते एष ह्यर्थो विधीयते' इति । क्रियैव कर्तुमकर्तुमन्य-  
थाकर्तुं वा शक्यत्वाद् विधातुं योग्या । जात्यादयस्तु न तथा । परन्तु कारकैरवि-  
शेषितस्य तस्य यागमात्रस्य विधिस्तितत्वात् यागविशेषस्वरूपज्ञापनाय  
जात्यादय उपयुज्यन्ते । तदाह—'भूतमव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते'  
इति भूतं मिदं जात्यादि । भव्या जन्मत्वेनैव प्रतीयमानानां क्रिया । तत्र यद्यपि  
क्रियाया इव तत्क्रियानिरूपितब्रीह्यादिनिष्ठकारणत्वादेरपि अनवगतत्वाद् करण-  
त्वादिपुरस्कारेण ब्रीहिरपि प्रागनवगत इति विधातुं शक्यः, तथापि क्रियायां  
विधेयत्वे विशेषस्यैवानवगमात् अनधिगतार्थविषयकज्ञानजनकत्वं सुलभम् ।  
ब्रीह्यादिपदानान्तु विशेषणानवगतप्रयुक्तमिति परम्परया तद्वक्तव्यम् तत्र  
माद्याध्यामाण्यासम्भवे परम्परया तत्किमिति वक्तव्यमिति । क्रियैव सर्वत्र  
विधीयते इति सूत्रकृदाशयः । परं तु यत्र 'ब्रीहिर्भिर्यजेते'त्यादिना क्रियाविशेषोऽ-  
वगमितः तत्र पश्चात् पठितेन 'समे यजेते'त्यादिना यागस्य निधातुमशक्यत्वाद्-  
गत्या समे देशे तदधिकरणत्वमात्रे विधीयते तदाह 'अदग्धवहन' न्यायेन यावद्-  
प्राप्तं तावद्विधीयते इति । आद्यवाक्ये तु करणत्वाकारेण ब्रीहयोऽपि यागोऽपि  
चेति द्वयमनधिगतमेव विधीयते । समे यजेतेत्यनेन तु समदेश पृथेति । एवं-  
जातीयको गुणविधिरित्युच्यते । आद्यस्तु विशिष्ट इति एवं विशेषणान्तरयोरोऽ-  
प्युक्तम् । यथा—'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीपत्वमात्रं  
विधेयम् । यथा वा 'रक्तं पटं वये'त्यादी । यत्र तु लौकिकवाक्येऽपि 'मास्य गृहे  
भुङ्क्था' इति एकवाक्यसमीपे आतेन 'वरं विपं भक्षये'त्युच्यते तत्रासत्प्रास्य  
विषमचूणे प्रवर्तनासम्भवात् वाक्यैकवाक्यं तथा तात्पर्यानुपपत्त्या तद्गृहभोजने  
निन्दायां लक्षणाऽऽश्रीयते तेन विषमचूणादधिकानिष्टजनकं तद्गृहभोजनमिति  
वाक्यैकवाक्यता सम्पद्यते । तदाह—'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां  
स्तु'रिति तेन पूर्वप्रदर्शितद्विविधार्थवाक्यानां स्तुतौ निन्दायां वा लक्षणेति पर्य-  
वस्यति । एतावता सर्ववैदिकवाक्यानामनधिगतार्थविषयकज्ञानजनकत्वं परि-  
रक्षितं भवति । यत्र तु 'शून्यं वासगृहमि'त्यादौ स्वार्थे तात्पर्यानुपपत्तिरेव  
नास्ति तादृशोऽभिधामूलव्यङ्ग्ये कारणाभावेन लक्षणाया असम्भवात् । अभिधा-  
याश्च सङ्केतितार्थमात्रबोधनेनोपक्षणीत्वात् पश्चाज्जायमाना व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिर्व्य-  
न्तराश्रयणं विना न सम्भवतीति आवश्यकी व्यञ्जना ।

इदानीं 'यदि च शब्दभूते' रियादिग्रन्थेन व्यञ्जनानङ्गीकारे दोषदृष्टिमाह —  
 शब्दश्रवणप्रत्यक्षायवहितोत्तर यदर्थविषयकप्रतीति सा शक्तिजन्येव भूतं  
 'ब्राह्मण' पुत्रस्ते जात, वन्या ते गर्भिणी'त्यादि स्थले सुखप्रसादमुन्मत्तमालिन्धा  
 दिनाऽनुमितहर्षशोकबुद्धीनामभिधानन्येव स्यात् । किञ्च 'गङ्गाया घोष' इत्या  
 दावपि दीर्घदीर्घनराभिधायापारेणैव तीररूपायं प्रतीतिमिदौ लक्षणाया अनुपयुक्तं  
 स्यात् । किञ्च 'धुनिष्ठावाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याना पारदौर्ध्वमर्थविप्रकृषा  
 दिति जैमिनीयसूत्रेण लिङ्गादीनामुत्तरोत्तर विन्म्वेनाथापस्यापकृतया ध्रुतेश्च सर्वा  
 पेक्षया नाधोपस्थितत्वेन वर्णयस्त्वमिदुक्तम् । तत्र लिङ्गापेक्षया ध्रुतेर्लक्ष्ये  
 उदाहरणम् 'पेन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते, इति । अत्र इन्द्रो देवता अस्तेत्येन्द्रानि  
 ह्युत्पत्त्या तस्या ऋच इन्द्रोपस्थानाद्भवे प्रत्येऽपि गार्हपत्यमिति ध्रुतर्बलवत्त्वेन  
 लिङ्गोपस्थापितेन्द्रोपस्थानरूपार्थस्य बाधे इन्द्रदेवताककचाऽपि गार्हपत्य स्मृतम् ।  
 तत्र यदि शब्दश्रुत्यनन्तरोपस्थितसंस्कारार्थबोधनेऽभिधायापार स्यात्तदा ध्रुतु  
 स्थापितार्थस्यैव लिङ्गाद्युपस्थापितार्थस्याप्यभिधेयतया सर्वथा समकालनेवाधे-  
 यस्थापकत्वेन मुनिनोक्तमर्थविप्रकर्षं वननुपपन्नं स्यात् । एवञ्च इदुत्पत्त्ये स्वरूपमन  
 कारगत्वेन तथा वक्तुं शक्यत्वेऽपि पदेऽर्थबोधानुकूलशक्ते ज्ञानाया एव कारण  
 त्वाग्निनोपपद्युने पादौ तदन्तिकमेव रन्तु गतासीत्पादिविधे अभिधाप्रतिपाद्य-  
 भावेन व्यङ्ग्येव मिदमेव ।

किञ्चाग्निताभिधानवादिमते व्यञ्जनानङ्गीकारे कष्टवादीनां नियदोषवत्त  
 साधुवादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात् । तदङ्गीकारे च  
 श्रुतारसे व्यङ्ग्ये पर्यवर्णस्य प्रतिकूलत्वेन दोषच, वीरादिरस व्यङ्ग्येऽनुकूल  
 त्वेन गुणत्वमिति भवति नित्यानि यदोषव्यवस्था । 'द्वय गत सम्प्रति गोचर  
 मयता समागमप्रार्थनया कपालिन' इत्यादौ च कपालपिनाश्यादिपदयो  
 शिववाचकवऽपि कपालिन इत्युक्त्या दरिद्ररूपार्थप्रतीत्या शोचनीयस्य  
 युक्त्या सङ्गच्छते ।

वाच्यव्यङ्ग्यभेदमूलक एव वाचकव्यञ्जकशब्दयोर्भेद इति दर्शयति । अत्र  
 कशब्दस्य घटाद्यर्थापत्ता सङ्गेनितार्थ एव । अभिधाया उक्तवत्, व्यञ्जकस्तु  
 न तथा । किञ्चासुन्दरारये गुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणे 'वातीरकुड्ङ्गि'त्यादौ प्रता  
 यमान व्यङ्ग्यमनपेक्ष्य सीद'त्यङ्गानीति वाच्यमेव सचमकार श्रुतार परिपेय

यति । तत्र तात्पर्योऽविषय । दत्तसङ्केत कश्चिन्नतागहन प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यरूपो वाचकशब्देनाप्रतिपाद्यमानोऽपि प्रतीतिगोचरीभूत व्यञ्जनाव्यापार त्रिना केन बोधयितुं शक्य । न च 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादिस्थले व्यङ्ग्यार्थस्य नानाविधस्य प्रतीतिवत् लक्ष्यार्थेऽपि 'रामोऽसौ सुवनेषु', 'रामेण प्रियजीवितेन', 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इत्यादौ क्रमेण एक एव रामशब्द स्वरूपणादिनिहन्तृत्वेन अत्यन्त निष्फलत्वेन सर्वदुःखसहिष्णुत्वेन प्रतीयत इति नानार्थबोधक, किञ्च व्यङ्ग्यस्थले 'त्वामस्मि' इति श्लोके त्वामित्यस्य प्रीतिपात्रत्वाद्यर्थान्तरसङ्क्रमेण न यथा विशेषव्यवहारकारणत्वम् तथैवात्रापि निष्फलत्वादिवोधनेन विशेषव्यवहारहेतुरपि । किञ्च व्यञ्जनाभिधामूला लक्षणा मूला चेति शब्दार्थापत्ता लक्षणाऽपि शब्दे आरोप्यत इति शब्दाद्यत्ता । मुख्यार्थवाधज्ञाने मुख्यार्थज्ञानस्यावश्यकत्वात् अर्थापत्ता च प्रकरणादिसापेक्षत्वमुभयत्रापि मुख्यमेवेति न लक्षणाव्यञ्जनयोर्भेद इति चेदुच्यते । रामशब्देन निष्फलत्वादीना नानार्थानां प्रतीतात्रपि न तथा वक्तुं शक्यम् । एककाले उच्चारितरामशब्दस्य सादृशनानार्थबोधोद्भाजनकत्वात् । 'रामोऽस्मी'त्यत्रोच्चारितरामशब्देन सर्वदुःखसहिष्णुत्वविशिष्टरामस्यैव बोधात् । 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ तु एककाल एव नानार्थप्रतीतिरिति तदपेक्षया लक्षणाया वैलक्षण्यम् किञ्च 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ तरेण साक सामीप्यादि सम्बन्धस्य सत्त्वाल्लक्षणेति सा नियतसम्बन्धे एव भवति । व्यञ्जना तु 'अथा एते' इत्यादौ नियतसम्बन्धे, 'कस्त वा न होइ रोसो' इत्यादौ वञ्चनीयत्वाद्यनियत सम्बन्धे, सम्यक्सम्बन्धे 'विपरीभरए' इत्याद्यनुरणनरूपव्यङ्ग्यस्थलेऽपि व्यञ्जना लक्षणयोर्भेदोऽवश्य वाच्य एव । अन्यथा 'अथा एते' इत्यादौ लक्षणाहतूना मुख्यार्थवाधादीनामभावात् 'यथेष्ट मम शय्यायामेव स्त्रपिही'त्यर्थं कथं प्रतीयेत ? किञ्च न लक्षणास्वरूपमेव ध्वननम् । लक्षणासुप्रज्ञीव्य ध्वनेर्दर्शनात् । कार्यकारणयोस्तादात्म्यस्याभावात् । लक्षणानुगतमेव ध्वननमित्यपि न वाच्यम् । 'भद्रात्मनः' इत्यादिश्लोके अभिधामूलव्यञ्जनाया सत्त्वात् । अवाचकानां टका रत्कारादीनां रौद्रादिव्यञ्जकत्वादभिधालक्षणाभयानुसार्येवेत्यपि न वक्तुं शक्यम् । नेत्रत्रिभागावलोकनादीनामपि व्यङ्ग्यत्वेन शब्दानुसारीत्यपि न शक्यते वक्तुमिति अभिधातात्पर्यलक्षणातिरिक्त ध्वननद्योतनादिपर्याय व्यञ्जनाव्यापारोऽवश्यमाश्रयणीय एव । अत्र वैयाकरणा अखण्डबुद्ध्या पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णव्यवया



न चेत्पुनः 'वाक्यस्फोटोऽतिनिर्गुणः' सिध्यतीति मतस्थितिरिति वाक्य-  
स्फोटस्यैव सिद्धान्तितत्वात् अखण्डवाक्यस्य वाक्याधे शक्ते सत्त्वात् वाक्यगम्ये  
व्यङ्ग्यार्थे शक्तिरेवेत्याहुः । परं तेषामपि मते 'शास्त्रेषु प्रक्रियामेदैरभिधैत्रोप-  
वर्ण्यते । इति 'असत्ये चर्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इति स्वीकारात्  
पदपदार्थेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मतया निरीच्यते । 'नि शेषे'त्यादिश्लोके तदन्ति-  
कमेव गतासीति विधेः शक्त्यानुपस्थितत्वाच्चक्षणायाश्चानुपरात् त्रिष्यर्थप्रत्याप-  
नाय व्यञ्जनानामिका वृत्तिरवश्यं स्वीकार्येव । अत्र केचित्—

'याऽर्थाभ्यन्तराभिप्यक्तौ च सामग्रीसनिबन्धनम् सैवानुमितिपक्षे नो गम-  
कत्वेन सम्मते' त्यादिना व्यङ्ग्यार्थस्यानुमानेनैव गतार्थत्वाच्च व्यञ्जनास्वीका-  
रस्य प्रयोजनमित्याहुः । तथाहि न खलु प्रतीतिविषयीभूतोऽर्थो वाच्यादसम्बद्धो  
भवति तथात्वे सर्वस्माच्छब्दात्सर्वार्थोऽपलब्धिप्रसङ्गात् । एवञ्च सम्बन्धाद्व्यङ्ग्य-  
व्यञ्जकभावो व्यभिचारे नियमनेन भवतीति सपक्षसत्त्वेन पक्षसत्त्वेन विपक्षस्या  
वृत्तत्वेन च लिङ्गाद्धेतो लिङ्गिन ज्ञान साध्यविषयज्ञानं यत्तद्रूप एव व्यङ्ग्य-  
व्यञ्जकभावः पर्यवस्यति । तत्रोदाहरति । 'भ्रम घम्मिप्ति' अत्र यद्यङ्गीकृतमण  
तत्तद्व्यपकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम् गोदावरीतीरञ्च सिंहवत् अतः भीरुभ्रम-  
णायोग्यमिति भ्रमणाभावोऽनुमितावेव पर्यवस्यताति किमर्थं व्यञ्जना पृथक्  
स्वीक्रियते । तत्रोच्यते नात्रानुमानावसरः । पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यानु-  
मितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेतुनिश्चयस्य कारणत्वेन प्रकृते हेतुनि-  
श्चयाभावात् । न खलु 'यद्यङ्गीकृतमण तत्तद्व्यपकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्' इति  
नियमः । गुरोः स्वाभिनि आश्रया, कान्तानुरागेण, द्रव्यादिभाषाया वा भीरोरपि  
गमनसम्भवात् । किञ्च शूरत्वेन लोकनिन्दाभयात् श्रानं हन्तुमनिच्छन्नपि  
सिंहमारणार्थं मयाऽवश्यं गन्तव्यमिति गमने प्रवर्तते इति विरुद्धः । किञ्च  
गोदावरीतीरे सिंहसत्ता न प्रत्यक्षेणानुमानाद्वा निर्णीता किन्तु पुञ्जलीवचनात् ।  
तस्य च अर्थेन समं नियतसम्बन्धे 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इत्यादि  
वाक्यानां प्रामाण्यमिव प्रकृते अर्थेन समं नियतसम्बन्धाभावात् प्रामाण्यस्य  
वक्तुमशक्यतया हेतोः असिद्धत्वमपि । एवञ्च हेतोर्दुष्टत्वात् कथं तेन भ्रमणाभा-  
वस्य साध्यास्यानुमितिविर्लङ्घ्यं शक्यम् । एव 'नि शेषे'त्यादौ उपभोगव्यञ्जकतयोक्तानां  
चन्दनच्यवनार्दीनां तत्रैवोक्तानादिकारणान्तरेणापि सद्भावाद्यभिधारित्वेन

नानुमितिसाधकत्वं वाच्यम् । अत एव व्यक्तिवादिना दूतीप्रेषणात्पूर्वं नायकस्याधमत्वे प्रेषणस्यानुपपन्नत्वात् । तदुत्तरं कारणान्तरस्याभावेऽपि अधम इत्युक्त्याऽधमपदसहायानां चन्दनच्यवनादीनां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । व्यञ्जनावादिमते स्यात्प्रत्यभावेऽपि व्यङ्ग्यार्थप्रतीते सर्वसम्मतत्वाच्चोपपत्तिप्रदर्शनादभ्यस्ततेति सर्वमवदातम् ।

प्र० ६—व्याख्यायतामियमुद्धृता पङ्क्तिस्तत्रत्याशयं सुविशदीकुर्वता—‘अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतं कर्तुं न युज्यते’ इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रापि पदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का घाता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्’ इति ।

उ० ६—अर्थशक्तिमूलयोर्वरं बलकारयोर्वाक्यार्थावगमोत्तरगम्यतायाम्भिहितान्वयवादिमते घृत्त्यन्तरेणैवावगम इ धमभिदधत् अभिहितान्वयवादे व्यङ्ग्यस्याभिधेयता निराकरोति ‘अर्थशक्तिमूलेत्यादिना’ ‘अभिधेयतायाम्’ इत्यन्तेन । विशेषे तत्तद्व्यक्तिविशेषे, सन्निहितगवादिभ्यक्तविति यावत् । सङ्केतं संकेतग्रहः । न युज्यते न पार्यते शक्यते वा । आनन्त्याद्वयभिचाराच्च व्यक्तीनाम् । यद्वा विशेषे पदार्थसंसर्गः । न युज्यते । वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेन प्रागनुपस्थिते सामान्यरूपाणां जातिरूपाणाम्, जातिरेव पदार्थ इति मीमांसकसिद्धान्तात् । पदार्थानामाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् । प्रतीयपर्यवसानमाकाङ्क्षा । अग्यवधानेनोपस्थिति सन्निधिः । आधाविरहो योग्यता । एतद्वशात् परस्परसम्बन्ध इत्यादि सहकारिकारणताज्ञानेन \* वक्ष्यमाणजातिगुणक्रियासङ्गारूपाणामन्योन्यसम्बन्धे जनयितव्ये अपक्षयोऽपि शक्याऽप्रतिपद्यमानोऽपि तात्पर्यारण्यधृतिरूपो वाच्याद्यपेक्षया विलक्षणशरीर विशेषरूपं समुल्लसति, तत्र व्यङ्ग्यस्य वाच्यार्थादपि दूरभाविवादभिधेयताया क प्रसङ्ग इत्यर्थः । अयं भावः—अर्थशक्तिमूलेऽपि यत्पदेभ्यः प्रथमं पदार्थस्मृतिः अथ पदार्थप्रशपाणामन्वयविशेषरूपस्य वाक्यार्थस्य प्रत्ययः ततो व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति तृतीयकक्षायां कुतोऽभिधाया प्रसारणम् । द्वितीयकक्षायामेव तदनपेक्षणात् । यतोऽभिहितान्वयवादेऽशक्य एवान्वय आकाङ्क्षादिवशेन प्रतीयते । शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यपाराभाव इति च सर्वसिद्धम्’ इति ।

प्रश्न ७—अन्विताभिधानमतं परामृशता व्याख्यायेतामिमे कारि-  
के ग्रन्थवृत्तिप्रतिपादितदिशा—

‘शब्दवृद्धामिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति  
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ।  
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिद्वयात्मिकाम्  
अर्थापत्त्याऽवरोधेन सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥

उ० ७—येऽप्यन्विताभिधानवादिन —‘देवदत्त गामानये’त्यादि प्रयोजकवृद्ध-  
वाक्यं श्रुत्वा बाल तदनन्तरं प्रयोज्यवृद्धेन सास्नादिमन्तमर्थं देशान्तरं नीयमानमा-  
होवयायमेतद्विषयस्यैतत्क्रियागोचरकार्यताज्ञानवान्, तद्विषयश्चेष्टावत्वात् तद्विष-  
यकप्रवृत्तिमत्वाद्वा, भद्वदिनि प्रयोज्यवृद्धस्य ज्ञानमनुमिमीते । तत् कारणं विना  
कार्यानुपपत्त्याऽखण्डवाक्यस्यान्वयव्यतिरेकिणस्तज्ज्ञानेन कार्यात्कारणत्वरूपां  
शक्तिमवधारयति । अथ ज्ञेयसंबन्धं विना वाक्यस्य सा शक्तिरनुपपद्येत्यर्थापत्त्याऽ  
खण्डवाक्यार्थेनाखण्डस्य वाक्यस्य वाच्यवाचकभावरूपं सम्बन्धमवधारयति ।  
यदुक्तं प्रभगवत्कारिकयोः ‘शब्दवृद्धे’त्यादिना । त्रिप्रमाणकमिति । जात्यपेक्षया-  
त्रियम् न तु व्यक्त्यपेक्षया । एवमखण्डयोः सम्बन्धमवधार्य विशेषतोऽनुपपत्ते  
इत्यम्—अनन्तरं तेनैव प्रयोजकेन ‘चैत्र, अश्वमानय, देवदत्त, गा नय’ इत्यादि  
वाक्येषु कस्यचिदन्यपदस्यऽऽवापे कस्यचिद्वृद्धारे सति यस्य भागस्यान्वयव्यतिरे-  
कान्यां यस्य वाक्यार्थभागस्यान्वयव्यतिरेकानुपलभते, तत्र तस्य शक्तिमवधार-  
यति तच्च शक्यवधारणमन्वित एव पदार्थं, प्रथममन्वय एव वाक्यस्य शक्तिप्रहात्,  
पदार्थमात्रे शक्त्युपजीव्यविरोधाद्, व्यवहारगान्वितज्ञानस्यैवोपस्थापनाच्च, न च  
वाक्यं विना कश्चिदाद्यनुपपत्तिं व्यवहारेणैवाद्यनुपपत्ते, व्यवहारस्य च प्रवृत्ति  
निवृत्तिरूपस्य पदमात्रेण कर्तुमशक्यत्वात्, अतो वाक्यस्थितानामेव पदार्थानाम्  
न्वितत्वेव पदार्थेषु सङ्केतग्रहादन्विता एव पदशक्या, त एव च वाक्यार्थ इति न  
वाक्यार्थरोधे शक्नेर्विराम नत्वभिहितानां पदार्थानामन्वयोऽज्ञस्य एव प्रतीयते,  
योग्यतादिवशादिति युक्तम् । ननु तथापि समर्गविशेषोऽशक्य एव, पदार्थसामा-  
न्यान्वित एव शक्तिप्रहादन्यथा‘गामानये’तिपदं श्रुत्वाऽश्वमानयेत्यादिवाक्ये तदेवेद-  
मानयपदमित्यादिप्रत्यभिज्ञा न स्यात्, पूर्वस्य गयान्वितानयनपरस्थाध्वान्विता-  
नयनेऽशक्यत्वेनार्थभेदेन भेदादिति चेन्न, पदार्थत्वेन सामान्येन विशेषाणामेवान्वये  
शक्तिप्रहात्, अन्वितानां च विशेषरूपत्वादित्याहुः—तेषामपि मते सामान्येनैव

रूपेण विशेषः शक्यो न तु विशेषरूपेण, तथा च पदार्थान्तरसामान्यान्वितपदानां शक्तिः, गवादिविशेषान्वितस्तु विशेषो वाच्य एव । तस्मादभिहितान्वयवादेऽन-  
न्वित एवान्विताभिधानवादे ॥ पदार्थसामान्यान्वितः स्वार्थः सङ्केतविषयो,  
गवादिविशेषान्वितानयनादिरूपस्त्वसङ्केतित एवेत्यवाच्य एव वाक्यार्थः इति ।

प्रश्न ८—‘नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते’ इत्यस्य क  
आशयः ? कथं च तच्चिराक्रियते ?

उ० ८—यदपि कैश्चिदुच्यते ‘शब्दश्रवणानन्तरं यावानर्थः प्रतीयते, तत्र  
सर्वत्रापि शब्द एव निमित्तम् । यतो नैमित्तिकानुरोधेन निमित्तानि कल्प्यन्ते’  
इति तदप्ययुक्तम् । शब्दस्य ह्यर्थे निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा । न प्रथम  
शब्दस्यार्थानुत्पादकत्वात् । चरमं पुनरनुमन्यते, परंतु सङ्केतत्वेन ज्ञातस्य, अज्ञा-  
तस्य, स्वरूपमात्रेण ज्ञातस्य वा ज्ञापकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । न चाम्बयविशेषे सङ्केत-  
ग्रहः, अस्तु विशेष एव सङ्केतग्रहः इति चेद्, लोष्टाद्यन्वितानयनादेर्विशेषस्योपस्थाप-  
कान्तराभावेन शब्दादेवोपस्थितिर्वाच्या । तथा च तत्र सङ्केतग्रहे शब्दात्तदुप-  
स्थितिः, शब्दाच्च तदुपस्थितौ सङ्केतग्रहः इत्यन्योन्याश्रयात् तस्मान्नैमित्तिकानु-  
रोधेन निमित्तानि कल्प्यन्ते इत्यविचारितभिधानम् ।

प्र० ९—परामृश्यतामियमुक्तिः ‘सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्या-  
पारः’ इति, ‘यत्परः शब्दः ॥ शब्दार्थः’ इति च ‘विधिरेवात्र वाच्यः’ इति ।

उ० ९—अथ ‘सोऽयमिषोरिवेत्यादि’, ‘यत्परः शब्दः सशब्दार्थः’ इति च  
‘निःशेषे’ त्यादौ विधिरेव वाच्य इति भट्टमतोपजीविनो भट्टलोहटादयः । अस्या-  
र्थ—यथा बलवता प्रेरितः ह्युरूपकेनैव वेगावधेन व्यापारेण धर्मच्छेदमुरोभेदं  
प्राणहरणञ्च रिपोर्विधत्ते तथा एक एव शब्दः एकेनैवाभिधाव्यापारेण पदार्थस्मृति-  
वाक्यार्थानुभवं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्ते । अतो व्यङ्ग्यत्वाभिमतस्यार्थस्य वाच्यत्व-  
मेव । किञ्च यत्र शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थ इति ‘निःशेषे’त्यादौ तात्पर्यार्थविषय-  
तया विधिर्वाच्य एवेति । ते तात्पर्यवाच्योयुक्तेस्तात्पर्यमज्ञानन्तः पशवः ( देवानां  
प्रियाः ) । तद्वाक्यवर्तिपदोपस्थापित एव हि तात्पर्यमुच्यते, न प्रतीतिमात्रे ।  
तथाहि ‘भूतभग्यसमुच्चारणे भूतं भग्यायोपदिश्यते’ इति सिद्धान्तः । अस्यार्थः-  
भूतं सिद्धं, भग्यं साध्यम् तयोः समभिग्राहारे भूतं सिद्धं भग्याय साध्यायोप-  
दिश्यते इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थनान्वीयमानाः सिद्धा अपि प्रधानक्रिया-

विधत्वाद्गौदादौ व्यङ्ग्येऽनुकूलत्वं, शृङ्गारादौ ॥ दुष्टत्वमिति युज्यते विभाग-  
व्यवस्था । एवं पर्यायेषु मध्ये कस्यचिदेव कुत्रचिन्नाव्येऽनुगुणत्वमित्यपि व्यवस्था  
न स्यात्, वाच्यार्थस्याविशेषात् । दृश्यते चामो यथा—‘द्वयं गतं सम्प्रति  
शोचनीयता समागमप्रार्थनया कपालिनः’ इत्यत्र न पिनाक्यादिपदमनुकूलम्,  
किन्तु अनुपसाध्यञ्जकतया ‘कपालि’ पदमेव । ननु द्वयमप्येतदयुक्तं, व्यङ्ग्यव्य-  
नाभिमतस्य वाच्यत्वस्वीकार एवानुकूलत्वप्रतिकूलत्वयोर्व्यवस्थोपपत्तेरिति चेत्  
न, अभिधास्वीकारे सङ्केतग्रहं विना सव्युपस्थितिप्रसङ्गस्योक्तत्वात् । किञ्च  
काव्ये शास्त्रे वा वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रतिपत्तिहतुष्यापारभेदनिवन्धनो भेदोऽदृश्य-  
स्त्वोक्तस्य वैधर्म्यदर्शनात् । वाच्यो ह्यर्थं सर्वेरेक एव प्रतीयते इति नियतं,  
व्यङ्ग्यस्तु वस्तुप्रसरणादिवत्तानियतं । तथाहि ‘गनोऽतमकं’ इति वाक्ये  
राज्ञं सेनापतीन्प्रति ‘शत्रूणामाहवेनावमर्दनाज्जर’ इति, दूतीनामभिसारिका-  
प्रत्यभिसरणमुपक्रम्यतामिति, सत्या वासकसज्जां प्रति ‘शस्त्रप्रायस्ते प्रेयान्’ इति  
कर्मकरस्य सहकर्म कुर्वन्तं प्रति ‘कर्मकरणाश्विर्तामहे’ इति, भृत्यस्य धामिकं  
प्रति ‘सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यताम्’ इति, आस्यस्य कार्यवशेन बहिर्गच्छतं प्रति  
‘दूरं मा गा’ इति, गृहिणो गोपालकं प्रति ‘सुरभयो गृहं प्रवेग्यन्त्वाम्’ इति  
दिवसेऽतिसन्तप्तस्य घन्धून् प्रति ‘सन्तापोऽधुना न भवती’ति, आपणिकानां  
भृत्याम्प्रति ‘विन्नेयवस्तूनि सद्वियन्ताम्’ इति, मायसाऽऽयमनप्रस्तापे प्रोषित-  
भर्तृकायास्तं कथकं प्रति ‘नागतोऽद्य प्रेयान्’ इति एकस्यैव वस्तुवर्तुन् प्रति तत्त-  
त्प्रकरणवशादेवमादिरनवधिर्ग्यङ्गयोऽर्थं प्रकाशते, वाच्यस्तु सर्वान्प्रति अविशिष्ट-  
एव । ननु नैतद्वाच्यवैधर्म्यम् नानार्थसैन्यवादिपदे नानार्थावगतिदर्शनादिति  
चेन्न । एकवाक्यवर्तिनस्त्वस्याप्यर्थक्यनियमात्, यद्यपि वक्ष्यति । ‘लङ्घनीयार्थस्य  
नाभात्वेऽपि अनेकार्थपदाभिधेयवन्नियतत्वेमेवे’ति । तथापि यत्र लवगाद्य-  
धिकारिणं प्रति सकलस्वामिनं सैन्यवमानयेति पदप्रयोगस्तत्रानियतत्वं दुर्वा-  
रमेवेति चेन्न । तापर्याज्ज्ञानात् । न ह्यत्र सर्वैर्वाच्यैः सम सर्वव्यङ्ग्यानां भेद-  
प्रतिपाद्यते, किन्तु ‘गतोऽतमकं’ इत्यस्य वाच्यव्यङ्ग्ययोः । तथा च तद्वाच्यस्य-  
नियतत्वं, तदर्थपुरस्कारेणैव सर्वेषां व्यङ्ग्यस्यापि प्रतीतेः । तदयं नियतत्वानि-  
यतत्वरूपविरुद्धधर्मसंसर्गोऽभिहितः । एवं विलक्षणस्वरूपकालादिभेदोऽपि  
भेदको द्रष्टव्यः । वैधर्म्यसत्त्वेऽपि यद्यभेदः स्यात्तदा नीलपीनादेरपि न कचिन्नेद-  
स्यात् वैधर्म्यस्याविशेषात् । यदुक्तम्—‘अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्ध-

विधत्वाद्गौदादौ व्यङ्ग्येऽनुकूलत्व, शृङ्गारादौ तु दुष्टत्वमिति युज्यते विभाग  
व्यवस्था । एवं पर्यायेषु मध्ये कस्यचिदेव कुत्रचिन्वाव्येऽनुगुणत्वमित्यपि व्यवस्था  
न स्यात्, वाच्यार्थस्याविशेषात् । दृश्यते चामौ यथा—‘द्वय गत सम्प्रति  
शोचनीयता समागमप्रार्थनया कपालिनः’ इत्यत्र न पिनाक्यादिपदमनुकूलम्,  
किन्तु जुगुप्साव्यञ्जकतया ‘कपालि’ पदमेव । ननु द्वयमप्येतदयुक्तं, व्यङ्ग्यव्य-  
नाभिमतस्य वाच्यत्वस्थोकार एवानुकूलत्वप्रतिकूलव्योर्व्यवस्थोपपत्तेरिति चेत्  
न, अभिधास्थोकारे सङ्केतग्रहं विना तदनुपस्थितिप्रसङ्गस्योक्तत्वात् । किञ्च  
काव्ये शास्त्रे वा वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रतिपत्तिर्हनुपापारभेदनिबन्धनो भेदोऽवश्य  
स्वीकर्तव्यं वैधर्म्यदर्शनात् । वाच्यो ह्यर्थं सर्वेरेक एव प्रतीयते इति नियतं,  
व्यङ्ग्यस्तु वस्तुप्रकरणादिवशादनियतं । तथाहि ‘गतोऽस्तमर्कः’ इति वाक्ये  
राज्ञः सेनापतीन्प्रति ‘क्षत्राणामाहवेनावमर्दनारसरः’ इति, दूतानामभिसारिका  
प्रत्यभिसरणमुपक्रम्यतामिति, सरया वासकसज्जा प्रति ‘भासप्रायस्ते प्रेयान्’ इति  
कर्मकरस्य सहकर्म कुर्वन्तं प्रति ‘कर्मकरणाश्विवर्तामहे’ इति, भृगुस्य धामिक  
प्रति ‘सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यताम्’ इति, भासस्य कार्यवशेन बहिर्गच्छतं प्रति  
‘दूर मा गा’ इति, गृहिणो गोपालकं प्रति ‘सुरभयो गृहं प्रवेशयन्ताम्’ इति  
दिवसेऽतिसन्तप्तस्य बन्धून् प्रति ‘सन्तापोऽशुभा न भयती’ति, आपणिकानां  
भृत्याम्प्रति ‘विन्नेयवस्तूनि सहियन्ताम्’ इति, नायकाऽऽगमनप्रस्तावे प्रोपित  
भर्तृकायास्तत्कथकं प्रति ‘नागतोऽथ प्रेयान्’ इति एकस्यैव वस्तुर्धनून् प्रति तत्त-  
त्प्रकरणवशादेवमादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थः प्रकाशते, वाच्यस्तु सर्वान्प्रति भविष्यति  
एव । ननु नैतद्वाच्यवैधर्म्यम् नानार्थसैन्धवादिपदे नानार्थावगतिदर्शनादिति  
चेत् । एकवाक्यवर्तिनस्तस्याप्यर्थेक्यनियमात्, यदमे वक्ष्यति । ‘लक्ष्मीयार्थस्य  
नामात्वेऽपि अनेकार्थपदाभिधेयवृत्तियत्तत्रमेवेति । तथापि यत्र लक्षणाद्य-  
धिकारिण प्रति सकलस्वामिनः सैन्धवमानयति पदप्रयोगस्तत्रानियतत्वं दुर्वा-  
रमेवेति चेत् । ता पर्याजानात् । न ह्यत्र सर्वार्थ्यैः सम सर्वव्यङ्ग्यानां भेद  
प्रतिपाद्यते, किन्तु ‘गतोऽस्तमर्कः’ इत्यस्य वाच्यव्यङ्ग्ययोः । तथा च तद्वाच्यस्य-  
नियतत्वं, तदर्थपुरस्कारेणैव सर्वेषां व्यङ्ग्यस्यापि प्रतीतेः । तदयं नियतत्वानि-  
यतत्वरूपरिरुद्धधर्मसंसर्गोऽभिहितः । एवं विलक्षणस्वरूपकालादिभेदोऽपि  
भेदको द्रष्टव्यः । वैधर्म्यसत्त्वेऽपि यद्यभेदः स्यात्तदा नीलपीतादेरपि न षचिन्नेद-  
स्यात् वैधर्म्यस्याविशेषात् । यदुक्तम्—‘अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्ध-

धर्माध्यास कारणभेदश्चेति । सुप्रसिद्धश्च तत्र तत्र स्वरूपभेदार्थभेद । तत्र  
 'नि शेषे'त्यादौ । 'मास्तर्ययुत्सार्य विचार्य कार्यमाख्या समयादिमिदं वदतु ।  
 सेव्या नितम्बा किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्' इत्यादौ । 'कथं  
 भवनिष दर्पो यन्निशातासिधारादलनगलितमूर्ध्नां विद्विषा स्वीकृता श्री । ननु  
 सख निहतारेप्यसौ किं न भीता त्रिदिवमपगताङ्गैव ह्यमा कीर्तिरेभि ।' इत्यादौ  
 च स्वरूपभेदः । प्रथमे हि वाच्यो निषेधरूपो व्यङ्ग्यस्तु विधिरूप, द्वितीय  
 वाच्य सशयरूप प्रतीयमानस्तु दान्ते शृङ्गारिणि वा वक्तरि तदुचितैककोटि  
 निश्चय, तृतीयो वाच्यो निन्दारूप प्रतीयमानस्तु स्तुतिरूप, कालभेदस्तु सर्वत्र  
 पूर्वं हि वाच्य प्रतीयते पश्चात्तु व्यङ्ग्य इति । वाच्यस्य तु शब्दमात्रमाश्रय,  
 प्रतीयमानस्य तु पदशब्दैकदेशीभूतकाकादितदर्थवर्णसङ्कटना इत्याश्रयभेदः ।  
 वाच्यस्य व्याकरणकोशादिमात्रेणावगम, प्रतीयमानस्य तु प्रतिभानैर्मन्त्रेणा-  
 प्यधिकेनेति ज्ञापकभेदः । वाच्येन ह्युपपन्नमाश्रय प्रतीतिमात्रम् अन्येन तु  
 विदग्धपदवाच्यस्य सहृदयस्य चमत्कृतिरिति कार्यभेदः 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ  
 दर्शितनयेन वाच्य एक प्रतीयमानस्तु नानेति सत्याभेदः, 'कस्स वा ण होई' इति  
 प्राकृत पदम् । तस्य छाया-कस्य वा न भवति रोपो दृष्टा प्रियाया सम्यग-  
 मधरम् । सन्नमरपद्माप्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्, इत्यादौ वाच्यार्थस्य-  
 सन्नोभ्या सखी विषय, तत्र हि वाच्योऽर्थं श्रोतुमर्हतिष्ठते । प्रतीयमानस्य तु  
 'भ्रमरेणास्या भयर सङ्कित, न तूपपतिनेति तकात्त, 'ममैष वैदग्ध्यम्'  
 इत्यस्य प्रतिवेशिनी, इदानीं मया समाहित पुनरेव त्वया न विधेयम्' इत्यस्यो-  
 पपत्ति एव सपन्थादिविषयोऽपीति विषयस्य भेदः । एव स्वरूपादिभेदादव-  
 श्यमङ्गीकर्तव्यो वाच्यव्यङ्ग्ययोर्भेदः । किञ्च वाचकव्यञ्जकयोरपि वैधर्म्याद् भेदो-  
 वक्तव्यः । यतो वाचकस्य सङ्केतितार्थपेक्षा, सङ्केतिते श्लेषार्थेऽभिधा प्रवर्तते,  
 न वेव व्यञ्जक अन्यत्रापि व्यञ्जनया प्रत्ययजननात् । यच्चोक्त- 'तापर्यविषये  
 शब्द प्रमाणम्' इति तदितोऽप्यनुपपन्नम् । यतो व्यङ्ग्यस्य वाच्यताभ्युपगमेऽपि  
 नामार्थन्यायेन तापर्यादेव नियमो वाच्य, अन्यथा सर्वत्र सर्वव्यङ्ग्य  
 प्रतीतिप्रसङ्गात् । तथा च यत्र 'वाणीरकुडङ्ग' इत्यादौ व्यङ्ग्यप्रतीतावपि  
 वाच्य एव चारवविश्रामस्तत्र तापर्याविषयो व्यङ्ग्योऽर्थः कथं प्रतीयते । 'यत्पर  
 शब्द' इत्युक्तमते तु सुतराम् । एतेन तापर्यमेव व्यङ्ग्यप्रतीतौ व्यापार इयपि  
 निरस्तम् । तस्मात्तापर्यमभिधा वा न प्रतीयमानेऽर्थे व्यापारः ।

प्रश्न १२—ननु लक्षणानुगतत्वं व्यञ्जनाया कुतो न ?

उ० १२—नन्वस्तु लक्षणा । नहि वाच्यबलवत्तयोऽपि व्यवस्थितो विशेष्यप-  
देशाहेतुर्वा । यतो रामोऽस्मि सर्वं 'सहे' इत्यत्र 'राम' पदेन सर्वदुःखभाजनत्व,  
'प्रत्याप्यानरचे' कृत समुचित क्रूरेण ते रक्षसा । सोढ तच्च तथा त्वया कुल-  
जनो धत्ते यथोच्चै शिर । व्यर्थं सम्प्रति मित्रता धनुरिदं लब्धापदा साक्षिणा ।  
रामेण प्रियजीवितेन ॥ कृतप्रेम्ण प्रियेनोचितम् ।' इत्यत्र कातर वम्, 'रामोऽसौ  
भुवनेषु विक्रमगुणैः' इत्यत्र स्वरूपणादिहन्व च लक्ष्यते । अतो रामपदलक्ष्य-  
एवानेको भवति, अर्थात्तरसङ्क्रमितवाच्यादिविशेष्यपदेशहेतुश्च भवति । एव  
मन्यत्रापि स्यात् । तदुक्तं—'भाक्त्यमार्गस्तद्वन्' इति लक्षणीयविशेषावगमश्च  
प्रकरणादिसापेक्षेण शक्यार्थेन स्यादतो नास्त्यतिरिक्तं प्रतीयमानो नाम । नैवम् ।  
लक्षणीयस्य नानात्वेऽपि हि नानार्थसम्बन्धादिपदाभिधेयस्येव नियतत्वमेव । न  
सर्ववर्णनियतसम्बन्धो मुर्येनार्थेन लक्ष्यितुं शक्यते । प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिनशेन  
नियतसम्बन्धोऽनियतसम्बन्ध सम्बन्धसम्बन्धश्चेति तत्स्वरूपं सोदाहरणमप्रे-  
मदर्शयितुं यते । किञ्च 'अत्ता एत्थ गिमज्जई यादौ विरहितान्यपरवाच्ये कथं  
लक्षणा, मुख्यार्थशब्दाभावात् । ननु तत्रापि तात्पर्याधीनान्वयानुपपत्तिश्च त्रिणो  
यान्तीत्यत्रेवेति चेन्न । लक्षणाया प्रयोजननियमात् । तस्य च व्यापारान्तरा-  
गम्यत्वात् तदर्थं व्यञ्जनाद्वीकारे किं प्रथमयापि लक्षणाया । अथ निरुद्धलक्षणा  
यामिवान्यत्राप्यस्तु प्रयोजनानपेक्षेति चेन्न । यथाहि सङ्केतग्रहणापेक्षाऽभिधा,  
तथा मुर्यार्थवाधतद्योगरूढिप्रयोजनान्यतरस्य मुख्यार्थसङ्केतग्रहस्य च सापक्षा  
लक्षणा । तत्कथं रुद्धे प्रयोजनस्य बाधभावे भवेत् । यतः सङ्केतग्रहणापेक्षा सा ।  
अत एवा'भिधापुच्छभूता से'त्याहुः । किञ्च न लक्षणाव्यञ्जनयोरभेदः, लक्षणाभुप-  
जीव्यं तद्दर्शनात् । नापि लक्षणानुगतमेव ध्वननमिति ध्वनेस्तल्लक्षणमिति वाच्यम् ।  
अभिधोपजीवनेनापि भावात् । न च लक्षणाभिधोभयानुसार्येव । वर्णमात्रानुसा-  
रेणापि हि दृश्यते रसादिव्यञ्जना । न च वर्णमात्रे लक्षणाऽभिधा वा । सापि  
शब्दानुसार्येव । विकसज्जर्तकीनेत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि प्रसिद्धे । तस्मा  
दभिधा-लक्षणा तात्पर्यविलक्षणस्तुरीयो ध्वनन-य-वनद्योतनप्रकाशनादिपर्यायो  
व्यापारोऽनपह्वर्णीय एव । तत्र 'अत्ता एत्थ गिमज्जई' आदौ व्यङ्ग्याऽर्थो नियतः  
सम्बन्धः, 'करस ण वा होइ रोसो' इत्यादावनियतसम्बन्धः, नियतसम्बन्धत्वं च  
व्यङ्ग्यप्रतीत्योरेकविषयता सकत्वम्, प्रथमे तस्य भावः पथिकरूपेकविषयकत्वात् ।



द्वितीये तु तदभावः, सखीतत्कान्तादिविषयभेदादिति केचित् । तच्च सम्यगामाति,  
लक्ष्यस्य नियतसम्बद्धत्वमेव, व्यङ्ग्यस्य ॥ तथात्वान्यथाऽऽ चेति पूर्वप्रतिपादि-  
तस्य हीदमुदाहरणमिति लक्ष्यसाधारण नियतसम्बद्धत्व वाच्यम् । न चोक्तं तथा  
भवति । अन्ये ॥ प्रथमे सर्वेषामेव सत्यताप्रतीतिः, द्वितीये ॥ कान्तस्यैव  
सत्यतया, अन्येषां त्वसत्यतयेति नियताऽनियतसम्बद्धत्वमित्याहुः । तदपि न  
मनोरमम् । यत एव वाच्यप्रतीतिरेव सत्यताऽसत्यताप्रतीतिविषयत्वरूप वैलक्ष-  
ण्यमुच्यते, न तु व्यङ्ग्यप्रतीतिः । तस्मान्नियतसम्बन्धत्वे तेन वाक्येन सह ज्ञाप्यत्व-  
रूपसम्बन्धनियमः ( साध्याप्रवेशरूपे व्यङ्ग्ये तदप्रवचनरूपस्य वाच्यस्य विरोध-  
सम्बन्धोऽस्ति । स च प्रसिद्धतया क्लृप्त इति नियतरूपम् । द्वितीये नायकेनावगते  
भ्रमरेणास्या भास्य दृष्ट नतृपपतिना इति व्यङ्ग्यार्थः । विनीतत्वरूपवाक्यार्थस्य  
न कोऽपि प्रसिद्धसम्बन्धोऽस्ति इति कोऽपि कल्पनीय इत्यनियतत्वम् । ) इति  
युक्तमुत्तरयाम । सम्बद्धसम्बन्धो यथा 'विचरीभरपृ०' इति प्राकृत पद्यम् । अस्य  
छाया—'विचरीतरने लक्ष्मीर्ग्रहाण दृष्टा नाभिरुसलस्थम् । हरेर्दक्षिणनयन रसा-  
कुला झटिति स्थगयति' इति । अत्र हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकत्वं तन्नि-  
र्मलत्वेन सूर्यास्तमयस्तेन पद्मसङ्कोचस्ततो ग्रहणस्थगन तस्मिन्सति गोपनीया-  
ङ्गस्यादर्शनेनानिर्यन्त्रण निधुवनविलयितमिति सम्बद्धसम्बन्धानि द्योत्यन्ते ।

प्रश्न १६—व्यञ्जनाविषये वेदान्तिवेद्याकरणानां मतमनूय खण्डयत ।

उ० १३—वेदान्तिनस्तु-क्रियाकारकादिपुरस्कारेण शब्दानां प्रवृत्तिर्धर्मधर्मि-  
भावमपुरस्कृत्य न सम्भवति, धर्मधर्मिभावश्च प्रपञ्चगोचरो वा स्याद्, ग्रहगोचरो  
वा । नाद्यः प्रपञ्चस्य साध्यत्वात् ( ससारस्य मिथ्यात्वेन धर्मधर्मिभावश्च न  
सम्भवति ), नान्त्यः ग्रहणो धर्मशून्यत्वात् । अतः पदपदार्थविभागमन्तरेणैव  
'सत्यं विज्ञानमि' यादि वाक्यमखण्डमेवाऽखण्डग्रहवाचकमित्यातिष्ठन्ते । अतस्त-  
न्मतानुसारेण प्रतीयमानेऽपि वाच्यस्य शक्तिरेव ( पदपदार्थविभागमन्तरेणैव सत्य-  
ज्ञानमनन्तं ग्रहो'त्यादि महावाक्यमखण्डमेव अखण्डं ग्रहं बोधयति इति वेदान्त-  
मतानुसारेण व्यङ्ग्येऽपि वाक्यगम्ये वाक्यस्य वाच्यस्य वा शक्तिरेवेति पूर्वपक्षः )  
इत्यपि न वाच्यम् । यतो व्यवहारमार्गं तैरपि पदपदार्थकल्पनाऽवश्यमङ्गीकर्तव्या ।  
व्यवहारे तेषां भट्टनयस्वीकारात् । यदि च पदार्थकल्पना अविद्यादशायामपि  
नार्हीक्रियते, कुतस्तर्हि व्युत्पन्नाऽव्युत्पन्नाविभागव्यवहारः ? वाक्यार्थ एव

वाक्यस्य सङ्केतग्रहमाधित्वेति चेन्न । वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेनाऽऽनन्त्यात्तत्र सङ्केतग्रह-  
स्याशक्यत्वात् । अविद्यामार्गतिरस्कारे च कथमसङ्ख्योरपि वाच्यवाचकभावः ।  
पारमार्थिकभेदाभावात् । तस्मात् तन्मतेऽपि विध्यादिव्यङ्ग्य एव ।

प्रश्न १४—व्यञ्जनाविषये महिममद्वैतमनूद्य सङ्ख्यत ।

उ० १४—महिममद्वैतस्तु—न तावदसम्बद्ध एव वाक्याऽप्यतीयते, सर्वस्मात्सर्वो-  
पलब्धिप्रसङ्गात् । सम्बन्धाच्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो भवन्नानियताद्भवतीति प्रति-  
बद्धरूपादेव भवतीत्यात्मेयम् । सम्बद्धोऽप्यर्थो न स्वाधिकरणत्वेनाऽज्ञाते व्यङ्ग्य  
प्रतिपादयति, सर्वत्र तत्पतीतिप्रसङ्गात् एवञ्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽनुमेयानुमापक-  
भाव एव पर्यवसन्नः । यतो व्यासत्वेन सकल्पचक्षुनिष्ठत्वेन च सप्तसप्तविपद्या  
सप्तसप्तसप्तलक्षणरूपत्रयवतो लिङ्गासिद्धिज्ञानमेवानुमानम् । तदेतदुक्तम्—‘अनुमान  
यत्तद्रूप’ इति ( अनुमित्यात्मको व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः पर्यवस्यति ) तेनानुमानेन  
रूप्यते न त्वतिरिक्त्या व्यक्त्येति तस्यार्थः । एवमनुमानादेव व्यङ्ग्यप्रतीतिः ।  
तथाहि—‘भम धम्मिज०’ इति प्राकृत पद्यम् । ज्ञायास्तु ‘भम धार्मिक विश्रब्धः स  
शुनकोऽप्य मारितस्तेन । गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दससिहेन’ इति । सङ्केतनि-  
वेतनीभूत गोदावरीनिकुञ्ज पुष्पावचयादिहतो कदाचि-सञ्चरतो धार्मिकस्य  
निवारणायाऽविनयवत्या इयमुक्तिः । तदत्र निकुञ्जवासिसिंहवृत्तया श्वनिवृत्त्या गृहे  
भ्रमणविधिर्वाच्यः स एव निकुञ्जभ्रमणायोग्यतानुमित्यै प्रभवति ( भ्रम गृहे श्वनि  
वृत्त्या भ्रमण विहित गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति ) यद्यङ्गीर-  
भ्रमण तत्तत्त्रयकारणनिवृत्तुपलब्धिपूर्वकम्, निकुञ्जे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापक-  
विरुद्धोपलब्धौ पर्यवसानात् । अत्र भीरुभ्रमणस्य व्यापिका भयकारणाभावोपलब्धिः,  
तद्विरुद्ध भयकारणम् तदुपलब्धिः ( अनेन व्यतिरेकव्याप्तिर्दक्षिता भवति, तथा च  
‘गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणाऽयोग्यं सिंहवत्त्वाद् यच्चैव तच्चैव यथागृहम्’ ) अनुमान  
चैव ‘गोदावरीनिकुञ्जं श्वभीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वाद् । अत्रोच्यते—श्वभीरोर  
वीरस्वभावस्य भ्रमणायोग्यत्वमत्र साध्यम्, वीरस्वभावस्य वा, विशेषादासीन्येन  
तत्सामान्यस्यैव वा । आद्ये व्यभिचारः, तादृशस्यापि प्रमोर्गुरोर्वा निदेशेन,  
प्रियानुरागेन, निधिलाभादिशङ्कया वा तत्र भ्रमणदर्शनात् । अत एव नान्योऽपि ।  
मध्यमे तु विरोधः, स्पर्शादिशङ्कयाऽशौरूपेयतया वा श्वतो विभ्यतोऽपि मृगयादि  
कुतूहलेन सिंहवद्देशे वीरस्य भ्रमणदर्शनात् । किञ्चात्र पक्षे सिंहसद्भावो न मानान्त-

रेणावधारितः किन्तु पुंश्रुतीवाक्यादवगमः । न च तद्वचनं निष्पापकम्, अप्येव समं  
 सम्यग्धानियमादिष्यनिधयरूपाऽसिद्धिः । एवं 'निन्दोपप्लुतचन्दने'त्यादी चन्दन-  
 व्यववनादीनि उपभोगम्यञ्जकतयोपात्तानि । न च तानि तस्याप्यानि कारणम्न-  
 रतोऽपि सम्भवात् । अत एवात्र स्नानकार्यत्वेनोपात्तानि । अतोऽनैकान्तिरूपम्  
 कथमनुमितिः स्यात् । ननु व्यक्तिरपि कथं ? तैरिति चेत् अधमपदमादिष्यादिति  
 प्रूमः । अस्माकमपि तासाहित्येनानैकान्तिरुक्ताम्यत्रिरेक इति चेद्, भवेदप्येवं  
 यद्यधमात्वं प्रमाणावधारितं भवेत्, न त्वेवमस्ति । व्यक्तिरपि कथं तादृशात्तवं-  
 दिति चेद्, पिङ्गू मूर्गं, व्यववनायां न व्यासेनापि पक्षधर्मनाया निर्धारणमत्रं सिग्न-  
 सम्भावितादप्येवंविधादेयंविधोऽर्थः प्रतीयत इति भूकीभव ।

इति पञ्चमोक्त्यामः ।



## अथ षष्ठ उल्लासः

प्र० १—ग्रन्थसन्दर्भपुर सरं व्याख्यायन्तां निम्नोद्धृतपद्यानि—

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्वहुधोदित ।

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिवाचां चान्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥

तदेतदाहु सौशब्धं नार्यन्युत्पत्तिरीदृशी ।

शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु न ।

उ० १—यद्यपि शब्दचित्रार्थचित्ररूपभेदद्वय प्रथमोच्चासे एव दर्शितम्, तद्यभेदाश्चालङ्कारभेदप्रदर्शनेनैव दर्शिता मवि'यन्ति' इति न कश्चिदस्ति तत्र प्र दर्शनीयम्, तथापि प्रदर्शितभेदद्वयमेव तावदनुपपन्न शब्दार्थालङ्कारयोरभ्योग्यनैर पेष्येणानुपलम्भात् । तत्राहु -शब्दार्थालङ्कारयोरेकैकमाश्रयस्थानपुरस्कारेण नाप्य विभाग किन्तु प्राधान्यपुरस्कारेण । तथा च प्रथमोच्चासे 'स्वच्छन्दोच्छलित' इति पद्ये नद्यन्तराधिक्यरूपेण व्यतिरेकालङ्कारेणार्थस्य चित्रत्वम् 'विनिर्गतमि'त्यादौ च मानमारममन्दिरात् इति मकारस्यासकृदावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासेन शब्दस्य चित्रत्व मस्ति तथापि तत्र काव्ये चित्रार्थशब्दयो चित्रौ च तावर्धशब्दौ च तयो गुणत्वेन प्राधान्येन चावस्थानम्—तदुक्तं 'न तु शब्दचित्रेभ्यस्याचित्रत्वम् अर्थचित्रे च शब्दस्य' इति । अत पूर्वोक्तोदाहरणद्वये 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति न्याये नात्र शब्दचित्रमर्थचित्र क्रमेणावगन्तव्यम् । तत्र प्रामाणिकाना वैमत्य प्रदर्श यति—रूपकादिरित्यादिना । शब्दालङ्काराणामर्थालङ्काराणा च चमत्कारप्रयोन- कावे प्रामाणिकसम्भतिमाह—तस्य काव्यस्य रूपकादि रूपकोपमादिरेव ( अर्थालङ्कार एव ) अलङ्कार अन्यै कैश्चिदालङ्कारिकै बहुधा बहुप्रकार उदित उक्त । अर्थस्य विभावादिरूपस्य रसव्यञ्जकत्वेनार्थनिष्ठो रूपकादिरेवालङ्कार मुख्यस्य रसादेरुत्कर्षकत्वात् । शब्दालङ्काराणा तु विभावाद्युपनयनमात्रप्रयोजक- शब्दधर्मतया न मुख्यालङ्कारत्वम्, तत्र व्यतिरेकदृष्टान्तमाह—'न कान्तम्' इत्यादि । यथा वनिताया आनन मुख कान्तमपि सलावण्यमपि निर्भूष निर-

लङ्कारं सत् न विभाति नाह्लादाय पर्याप्तं तथा शब्दार्थशरीरं ( काव्यस्य )  
 सगुणमपि निरलङ्कारं न विभाति । विभावादित्वेन प्राप्तानामर्थानामेव रसत्व-  
 मिति तेषां परिष्करणमुचितम् । अर्थं प्रत्याख्योपक्षीणानां शब्दानामलङ्कारस्या-  
 नादरणीयत्वात् । द्वितीये पद्ये 'रूपकादिमि'त्यादिना सार्धपद्येन 'शब्दालङ्कार  
 एवादरणीयो न स्वर्थालङ्कारः' इति केषाञ्चिदालङ्कारिकाणां मतमाह । परेऽन्ये  
 ( केषिदालङ्कारिकाः ) रूपकादिमर्थालङ्कारं बाह्यं काव्यार्थप्रतीत्युत्तरवर्तिनीम्  
 आचक्षते कथयन्ति । शब्दश्रवणानन्तरं शब्दालङ्कारेण चित्ते आकृष्टे अर्थप्रतीत्य-  
 नन्तरं हि रूपकाद्यनुसन्धानमिति तेषां बाह्यत्वम् । यतस्ते सुपां तिङां सुब-  
 न्तानां तिङन्तानां च पदानां व्युत्पत्तिं विशेषेणानुप्रासादिरूपेणोत्पत्तिं ( विशेषेण  
 उत्पत्तिः व्युत्पत्तिः ) संनिवेशं वाचामलङ्कृति शब्दालङ्कारं बाह्यमिति अभ्यन्तो-  
 पादेयत्वेनाभिलपन्तीत्यर्थः । तस्या एवालङ्कृतिरूपे हेतुमाह—तदेतद्वाहुरिति ।  
 सौशब्धं शोभनशब्दस्य काव्यस्य शोभनत्वं स्वत एव शब्दालङ्काराणां चमत्का-  
 रित्वमेव । अर्थव्युत्पत्तिः अर्थालङ्कारः नेदृशी न शब्दवत् स्वतश्चमत्कारिका अपि  
 तु विभावाद्युत्कर्षमुखेनैवेत्यर्थः । शब्दैरभिव्यज्यमानानामास्वादानां विभावादिभि-  
 रर्थैरपचायनम् ते च ( शब्दाश्च ) माधुर्यादिभ्यञ्जकवर्णघटितानुप्रासादिमत्तया  
 रचिता एव तद्व्यञ्जने प्रभवन्ति तेन शब्दालङ्काराणामावरणकता पञ्चाङ्गवानामर्था-  
 लङ्काराणामकिञ्चित्करता तैर्विनापि शब्दालङ्कारैरास्वादानामभिव्यक्तेः । तदेवाह  
 बाह्यमिति । 'आस्वोदोत्पत्तिदशायां तदनुपलम्भात्' । इति । अधुना 'शब्दाभि-  
 धेये'त्यादिना स्वसिद्धान्तमाह ग्रन्थकृत् । अभिधेयः अर्थः । यद्वा अभिधेयः  
 प्रतिपाद्यः तेन लक्ष्यव्यङ्ग्ययोरपि सङ्ग्रहः । 'तु' शब्दः पुनरर्थः । तथा च नः  
 अस्माकं ॥ शब्दाभिधेयालङ्कारभेदात् शब्दार्थालङ्कारभेदात् द्वयं शब्दार्थालङ्कार-  
 युगलम् इष्टम् अभिमतमित्यर्थः । इदमत्राकृतम् । नहि शब्दे स्वरूपेणालङ्कार-  
 निरर्थकेऽपि तदापत्तेः । नाप्यर्थं सर्वदार्थसत्त्वेन तदापत्तेः । किन्तु शब्दबोधितेऽ-  
 र्थेऽर्थबोधके शब्दे च चित्रता । अत एव द्वे काव्ये तेन द्वयोरप्यास्वादोपकारक-  
 त्वस्य सहृदयैकवेद्यत्वात् कविसंरम्भगोचरत्वाच्च द्वावप्यलङ्कारौ । इति ।

इति पद्योच्चासः ।

## अथ सप्तमोऽङ्कासः

प्रश्न १-दोषसामान्यस्य लक्षणं प्रतिपाद्य सोदाहरणान् सोपपत्तिकान् पदगतान् दोषान् प्रतिपादयत ।

उत्तरं १-‘उद्देश्यप्रतीतिविघातको दोष’ इति दोषसामान्यस्य लक्षणम् । षोडश पददोषा सन्ति । श्रुतिकटु १ श्रुती कटु यद् भवति तत् श्रुतिकटुच्यते । यथा-‘अनङ्गमङ्गले’त्यादिपद्ये ‘कार्त्ताप्यम्’ इति पदश्रवणे कटु विद्यते । च्युतसङ्कृति २ व्याकरणलक्षणहीन यद् भवति तत् पद च्युतसङ्कृतीच्यते । यथा-‘पुत-  
म्मन्दविपक्षे’या’दिपद्ये ‘अनुनाथते’ इति पद ‘आशिपि नाथ’ इति वार्तिकविरुद्धा-  
च्युतसङ्कृति । अग्रयुक्तम् ३ तथा पठितमपि कविभिर्नाहतम् । यथा-‘यथाय  
द्वारणाचार’ इत्यादिपद्ये ‘दैवत शब्द पुसि पठितोऽपि यथा ‘दैवतानि पुसि धा’ इत्यत्र  
पुसि कविभिर्न प्रयुज्यते । असमर्थम् ४ शक्तिरहित, यस्मिन्नर्थे पठितस्त प्रतिपा  
दयितुमशक्तम् । यथा-‘तीर्थान्तरेषु खानेन’ इत्यत्र ‘हन्ति’पदम् । हन्धातुर्गम  
नार्थे पठितोऽपि तदर्थप्रतिपादनेऽशक्त । निहतार्थम् ५ उभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयु-  
क्तम् । ‘यावदकरसार्द्र’ इत्यत्र ‘कोणित’शब्द उभयवलीकृतरूपेऽर्थे निहतार्थ । अनु-  
चितार्थम् ६ ‘तपस्विभिर्या’ इत्यत्र पशुपद कातरताभिग्नञ्जकवावनुचितार्थम् ।  
निरर्थकम् ७ पादपूरणमात्रप्रयोजनकम् । यथा-‘उत्फुल्लमलक्षेसर’ इत्यत्र ‘हि’  
पदम् । अवाचकम् ८ यथा-‘अवगम्यकोपस्ये’या’दिपद्ये ‘जन्तु’पदमदातर्यर्थं प्रयुक्त  
परन्तु तदर्थे जन्तुपदस्य शक्तिरेव नास्ति । अश्लीलम् ९ श्रीरस्यास्तीति श्रीर  
सिध्मादित्वान्मन्त्रार्थो लक्ष्मप्रयय । रलयोरभेदात् श्लील, न श्लीलम् अश्लीलम् ।  
अधरा श्रिय लातीति श्रीलम् । स त्रिविधो ब्रीडाशुगुप्ताऽमङ्गलमभक्त्वात् ।  
‘साधनं सुमहद् यस्य’, ‘लीलातामरसाहत’ शृङ्गपवनविभिन्न’ इत्यादीनि क्रमेणो  
दाहरणानि बोध्यानि । उक्तेषु त्रिपूदाहरणेषु साधनवायुविनाशशब्दा ब्रीडादि  
व्यञ्जका । सदिग्धम् १०-यथा-‘आलिङ्गितस्तत्र भवान्’ इत्यत्र वन्द्यामिति पदे  
वन्दीभूतायामुत वन्दनीयामिति सशय । अप्रतीतम् ११-यन्नेवले शास्त्रे प्रसि  
द्धम् । यथा-सम्पत्ज्ञानेत्यादिपद्ये आशयशब्दो वासनार्थो योगशास्त्रादावेव  
प्रयुक्तः । ग्राम्यम् १२ लोके पूव प्रसिद्धम् । यथा-राकाविभाचरीत्यादिपद्ये कनि-

पदम् । नेयार्थम् १३ रूढिं प्रयोजनविना शक्यसम्बन्धमात्रेणाशक्यार्थोपस्थापनम् । यथा—‘शरत्कालसमुद्भासि’ इत्यत्र चपेटापातनेन निजितत्वं लक्ष्यते । छिष्टम् १४ यतोऽर्थप्रतीतिर्व्यवहिता । यथा—अत्रिलोचनसमूहेत्यादिपद्येऽत्रिलोचनसमूहस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमनेन भासिभिः कुमुदैरित्यर्थो व्यवहितत्वात् छिष्टः । अविमृष्टविधेयाशम् १५ अविमृष्टं प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयाशो यत्र तत् । यथा—मूर्धामुद्बुत्तकृत्तेत्यादिपद्ये मिथ्यामहिम्नवानुवाचमपि तु विधेयम् । विरुद्धमतिवृत् १६ विरुद्धा चासौ मतिश्च, ता करोतीति विरुद्धमतिवृत् । यथा—न व्रस्त यदि नाम भूतकरणेयादिपद्ये भवानीपतिशब्दो भवान्या पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति । भवस्य स्त्री भवानी तस्या पतिरिति रीत्या भवानीपतिशब्द यश्चदत्तपत्या पतिरिति वत् पत्यन्तरप्रतीतिं करोति । एषु प्रारम्भिकाद्योदशदोषा केवलपदगता समासगताश्च अन्ये छिष्टादुपलब्धस्तु समासगता एव ।

प्र० २—पदांशदोषान् सोदाहरणान् प्रतिपादयत ।

उ० २—श्रुतिकटु—‘तद् गच्छ सिद्धयै’ अत्र ध्वै, ध्वै इति कटु । ‘यश्चाप्सरो-विभ्रम इत्यादिपद्ये’ भक्तशब्द स्त्रीवार्धे निहतार्थः । आदावञ्जनपुञ्जेत्यादिपद्ये दशा-मिति बहुवचन निरर्थकम् । आपाचार्यस्त्रिपुरविजयीत्यादिपद्ये विज्ञेय इति कृत्य प्रत्यय क्तप्रत्ययेऽवाचकः । ‘अतिपेलवमतिपरिमितवर्णम्’ ‘य पूषते’ ‘विनयप्रणयैककेतनम्’ एषु पेलपूषप्रेतशब्दा क्रमेण ग्रीडादिन्यञ्जकाः । ‘कर्मिन् कर्मणि’ इत्यादिपद्ये किं पूर्वं साधु उक्त साधुषु चरतीति सन्देहः । किमुच्यतेऽस्येत्यादिपद्ये वच शब्देन गी शब्दो लक्ष्यते ।

प्र० ३—साधारणान् वाक्यगतान् दोषान् सोदाहरणान् प्रतिपाद्या-साधारणान् वाक्यगतान् सोदाहरणान् दोषान् प्रतिपादयत ।

उ० ३—द्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकञ्चेति त्रीन् दोषान् विहाय त्रयोदशदोषा पूर्वमुक्ता वाक्येऽपि भवन्ति । ‘सोऽप्यैष्ट’, ‘स रात्रौ’ ‘सायकसहायराहो’ ‘कुविन्द-स्वम्’ ‘प्राञ्जलाह्’ ‘भूपतेरुपसर्पन्ती’ ‘तेऽन्यैर्वान्तम्’ ‘पितृवसतिमह मज्जामि’ ‘सुरालयोद्भासपर’ ‘तस्याधिमार्जोपायस्य’ ‘ताम्बूलभृतगह्वोऽयम्’ ‘वज्रवैदूर्यचरणै’ ‘धमिलस्य न कस्य’ ‘अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितम्’ ‘श्रितक्षमा रक्षमुच’ इत्यादिषु अत्रुक्त-निहतार्थ-अनुचितार्थ-अवाचक-ग्रीडा-जुगप्सा-अमृज्जालील-

सन्दिग्ध-अप्रतीत-ग्राम्य-नेयार्थ-विरष्ट-अविमृष्टविधेयाश-विस्मृतिवृद्दोपा-  
क्रमेण बोध्या ।

प्रतिकूलवर्णम् १ रसप्रतिकूला यत्र वाक्ये वर्णा भवेयुस्तत्, यथा-‘अकुण्डो-  
त्कण्डया’ इत्यत्र । उपहतलुप्तविसर्गम् २ ३ उपहत उत्त्व प्राप्नो लुप्तो वा विसर्गो  
यत्र तत्, यथा ‘धीरो विनीत’ इत्यादौ । विसन्धि ४ विश्लेष, सन्धौ अरली  
ए व, सन्धौ कष्टता वा ‘तत् उदित उदारहारहारि’ ‘वेगादुद्धीय गगने’ ‘उर्यसा  
वन्न तवांली’ इत्यादीनि क्रमेण विसन्ध्युदाहरणानि हतवृत्तम् ५ हत वृत्त यत्र  
तत्-एवञानुसरणेऽप्यश्व्यम्, न प्राप्नो गुरुभावोऽन्ते लघुना यत्र तत्, रसान  
नुगुण वेति त्रिविध हतवृत्तम् । यथा—‘अमृतममृतम्’ इत्यादिपद्ये हरिणीछन्द  
तस्मिंश्च प्रतिपाद् पद्याचरे यतिरुचिता । परम्बत्र चतुर्थपादे ‘हा’ इति पद्याचरे  
परपदानुसन्धानापेक्षत्वेन यतिमद्भादग्रध्यत्वम् । ‘विकसितसहकारतारहारि’ अत्र  
हारिशब्दोऽप्राप्तगुरुभावान्तलघुरस्ति । ‘हा नृप हा बुध’ इत्यादौ हास्यानुकूल  
दोषकष्टत विपरीतम् । न्यूनपदम् ६ ‘तथाभूता दृष्टा’ इत्यत्रास्माभि ‘खिन्ने’  
इत्यस्मात् पूर्वमित्यमिति च न्यूनम् । अधिकपदम् ७ यथा—‘स्फटिकाकृतिमि  
मंल’ इत्यत्राकृतिशब्द । कथितपदम् ८ ‘अधिकरतलतल्पम्’ इत्यादौ लीला-  
शब्द । पत-प्रकर्षम् ९ पतन् हसन् प्रकर्ष उत्कर्षो यत्र वाक्ये तत् । अलङ्कारकृ-  
तस्य घन्धकृतस्य वा प्रकर्षस्य यत्रोत्तरोत्तर पात । ‘क क कुत्र न’ इत्यादिपद्ये  
यथा । समाप्तपुनरात्तम् १० समाप्तमथ च पुनरात्तम् । यथा—‘जैङ्गार स्मरका  
मुंकस्य, इत्यत्र तनोतु व’ इति समाप्तमेव वाक्य नवेत्यादिविशेषणेन पुनरुपा-  
दीयतेऽतः समाप्तपुनरात्तम् । द्वितीयार्धगतैकवाचकशेषप्रथमार्धम् ११ द्वितीयार्ध  
गतमेक वाचक शेषम् अवशिष्ट यस्य तादृश प्रथमार्धं यत्र वाक्ये । यथा—‘मत्सृ-  
णचरणपातम्’ ‘भू सदभा’ तत् तस्मात् मसृणचरणपात गम्यताम्’ इति वाक्य  
द्वितीयार्धगतेन तदित्यनेन पूर्यते । अभवन्मतयोगम् १२ अभवन् मत ( इष्ट )  
योग ( सम्बन्ध ) यत्र । यथा—‘त्वमेवसौन्दर्या’ इत्यादौ यदित्यत्र तदिति  
तदानीमित्यत्र च यदिति वचन नास्ति । अनमिहितवाच्यम् १३ अवश्यवक्तव्य  
मनुक्त यत्र । यथा—‘त्वयि निचद्मरतेरि’त्यादौ अपराधस्य लवमपीति वाच्यम् ।  
अस्थानस्थपदम् १४ अस्थानेऽयोग्यस्थाने तिष्ठतीति अस्थानस्थम् । अस्थानस्थ  
पद यत्र । यथा—‘प्रियेण सप्रप्य’ इत्यादिपद्ये ‘काचिन्न विजहौ’ इति वाच्यम् ।



अस्थानस्यसमासम् १५ यथा—‘अद्यापि स्तनशैलदुर्गाविषमे’ इत्यादिपद्ये मुद्रस्य चन्द्रमम उक्तौ समासो न कृतः कवेरुक्तौ तु कृतः । संकीर्णम् १६ यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति । यथा—‘किमिति न परयमि कोपम्’ इत्यादौ पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न परयसि इमं कष्टे गृहानेत्यादिकं बोध्यम् । गर्भितम् १७ यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति । यथा—‘हर्षं रागावृताद्वा’ इत्यादौ ‘विदितं तेऽस्तु’ एतत् प्रयोजनं विनैव गर्भितं कृतम् । प्रसिद्धिहृतम् १८ प्रसिद्धिमतिश्रुतम् । ‘मञ्जिरादिषु रजितप्रायं पद्मिषु च वृजित-प्रभृति । स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु च गर्जितप्रमुखम्’ ॥ इयं प्रसिद्धिबोद्ध्या । यथा—महाप्रलयमास्तेत्यादौ मिहनादे रचः । भग्नप्रक्रमता १९ भग्नः प्रक्रम-प्रस्तावो यत्र तस्य भावः । यथा—‘गाहन्तां महिषा’ इत्यादिपद्ये गाहन्तानिति कर्तृतिष्ठः प्रक्रमात् क्रियन्तानित्यत्र तद्वद्भाः । अक्रमः २० अविद्यमानः क्रमो यत्र यथा—‘हर्षं रागावृताद्वा’ इत्यादौ ‘इति भ्रान्तियोगात्’, इति वाच्यम् । अमत्-परार्थम् २१ अमत्तः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र । यथा—‘शमनमभ्यशरणे, इत्यादिपद्ये तादृकामरणप्रकरणे बीभन्सरसे विरदस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ।

प्र० ४—अर्थदोषान् प्रतिपाद्योदाहरणेषु सङ्गमयत ।

उ० ४—त्रयोर्विधानिर्यदोषाः सन्ति । अपुष्टः १ मुरत्यापानुपकारी यथा—अतिविततगगनसरणीत्यादिपद्ये अतिविततत्वादयो मुस्यायं नोपकुर्वन्ति । कष्टः २ दुरूहः । यथा—सदा मध्ये यासामित्यादौ यामां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारवि-चित्रमध्यमामकत्रिमाणां भारती चमत्कारं बहति ताः गम्भीरकाम्यपरिचिनाः कथमितरकाव्यवत् प्रसन्ना भवन्तिवत्यादिरर्थो दुरूहः । व्याहृतः ३ पूर्वं कस्यचि-द्वपकर्षमुत्कर्षं वा प्रतिपाद्य पुनस्तदन्यथाकरणम् । यथा—‘अपति जयिनस्ते मे जत्र यं माधवप्रतीन्दुकलादयस्तुच्छप्रायाः स माधव एव मातृत्यामुत्कर्षार्थं चन्द्रि-कात्वमारोपयति । पुनरुक्तः ४ शब्देन ज्ञातः पुनस्तेनैव प्रतिपादितः । यथा—अश्रुज्वालावलीदेत्यादौ चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः । दुष्कमः ५ दुष्ट अनुचितः क्रमो यत्र । यथा—भूषादरबोत्यादौ मातृस्य प्राह्निदेशो दुष्कः । ग्राम्यः ६ ग्रामे भवः । यथा—‘भवपति यावदयं निकटे जन’ इत्यत्र रिरंसायाः स्पष्टकथनम् । सन्दिग्धः ७ यथा—मा-मय्येमु-साय्येत्यादिपद्ये प्रकरणाद्यभावात् सन्देहः । निहेतुः ८ निष्प्रान्तो हेतुरस्मात् हेतुरहित इत्यर्थः । यथा—‘गृहीतं येनामी’ इत्यादि-

पद्ये शब्दव्याग्रे हेतुर्न गृहीत । प्रसिद्धिविरुद्ध ९ यथा—‘इदं ते केनोक्तम्’ इत्यत्र कामस्य चक्र लोकेऽप्रसिद्धम् । विद्याविरुद्ध १० यथा—सदा छात्रा निशीथिन्यामित्यादौ ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ ज्ञान धर्मशास्त्रे निषिद्धम् । अनवीकृत ११ एकप्रकारेणैव निर्दिष्ट । यथा—‘प्राप्ता श्रियः सकलकामदुघास्ततस्किम्’ इत्यादौ ततः किमिति न बोधकृतम् । सनियमपरिवृत्त १२ सनियमं तेन वक्तुमुचितं अनियमत्वेनोक्तं । यथा—यत्रानुष्ठितार्थमेवेत्यादौ ‘छापामात्रमणीकृताश्मसु मणोस्तस्याश्मसु तैवोचिता’ इति वाच्यम् । अनियमपरिवृत्त १३ न नियमत्वेन वक्तुमुचितो नियमत्वेनोक्तः । यथा—वक्त्राभ्यो न निपाद्यौ ‘शोण एव’ इति नियमो न वाच्यः । विशेषपरिवृत्त १४ विशेषेण वक्तुमुचितोऽपि सामान्येनोक्तः । यथा—श्यामा श्यामलिमानमानयते यादौ ‘ज्योत्स्नाम्’ इति श्यामाविशेषो वाच्यः । अविशेषपरिवृत्त १५ सामान्येन वक्तुमुचितोऽपि विशेषेणोक्तः । यथा—कल्लोलवेहितदृष्टवित्यादौ ‘युक्तेन किं न विहितो भवतः स नाम’ इति सामान्यं वाच्यम् । साकाङ्क्ष १६ अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपीत्यादौ स्वीरक्तम् ‘उपेक्षितम्’ इत्याकाङ्क्षति । अपदयुक्त १७ अपदे अस्थाने युक्तं सबद्धं । यथा—आज्ञा शक्रशिखामग्निप्रणयिनीत्यादौ ‘स्याच्चेदेष न रावणः’ इत्यत एव सामान्यम् । सहचरभिन्न १८ सहचरेभ्यः सहोच्चरितेभ्यो भिन्नं विनातीयं । यथा—श्रुतेन बुद्धिरित्यादौ श्रुतादयः उत्कृष्टा न्यसनमूर्खत्वे च निकृष्टे । प्रकाशितविरुद्ध १९ प्रकाशितं विवक्षितार्थाद् विरुद्धोऽर्थो येन । यथा—‘एष रागावृताङ्गवेद्यादो विदितः तेऽस्मिन्व्यपनेन श्रीस्तस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाशयते । विध्ययुक्त २० यत्र विधानं युक्तं न भवेत् । यथा—‘प्रयत्नपरिवोधितः’ इत्यादौ ज्ञातितः प्रयत्नेन बोध्यत्वे इति विधेयम् । अनुवादायुक्त २१ यात्रानुवादो युक्तो न भवेत् । यथा—‘अरे रामाहस्ताभरणः’ इत्यादौ ‘विरहिप्राणदमनः’ इति अनुवाच्यम् । त्यक्तपुनस्वीकृत २२ ‘एग्नं रागावृताङ्गं’ इत्यादौ विदितं तेऽस्मिन्व्युपसंहृतोऽपि तने स्यादिना पुनरुपात्तः । अश्लील २३ यथा हन्तुमेव प्रवृत्तस्येत्यादौ पुरुषलिङ्गस्यापि प्रतीतिः ।

प्रश्न ५—सोदाहरणा रसदोषा लेख्याः ।

उ० ५—रसदोषाष्टयोदश सन्ति । व्यभिचारिणो, रसस्य, स्यापिभावस्य च स्वशब्देनोक्तौ क्रमेण त्रयो दोषाः । ‘सखीहा दयितानने’ ‘तामनङ्गजयमङ्गल-

श्रियम्' 'संप्रहारे प्रहरणैः' इत्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि ज्ञेयानि । अनुभावस्य कष्टरूपनया व्यक्तिः ४ । यथा—कर्पूरधूलिधवलेत्यादौ उद्दीपनालम्बनरूपः शृङ्गारयोग्या विभावा अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टरूपना । विभावस्य कष्टरूपनया व्यक्तिः ५ यथा परिहरति रतिमित्यादौ रतिपरिहारादीनामनुभावानां करुणादावपि संभवात् कामिनीरूपो विभावो यत्नतः प्रतिपाद्यः । प्रति-  
कूलविभावादिग्रहः ६ प्रसादे वर्तस्वेत्यादौ शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्य-  
ताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्बेदश्च व्यभिचारी उपात्तः । दीप्तिः पुनः  
पुनः ७ यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे । अकाण्डे प्रथमम् ८ अकाण्डे अनवसरे  
रसस्य प्रथमं विस्तारः । यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरस्ये प्रकृते भानु-  
मत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम् । अकाण्डे छेदः ९ यथा—वीरचरिते  
द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराभिरुद्धे वीररसे, 'कङ्कणमोचनाय गरुडामि' इति  
राघवस्योक्तौ । अङ्गस्याप्यतिविस्मृतिः १० यथा हयग्रीवस्ये हयग्रीवस्य । अत्रिनोऽ-  
ननुसंधानम् ११ यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वाभग्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।  
प्रकृतिविपर्ययः १२ दिव्यादिव्यदिव्यादिव्यभेदात् प्रकृतपञ्चिविधाः सन्ति ।  
तद्विपरीतवर्णनम् । यथा कुमारसंभवे शम्भोः शृङ्गारवर्णनम् । अनङ्गस्य रसानु-  
पकारकस्य वर्णनम् १३ यथा कर्पूरमञ्जरीं नायिकया स्वात्मना च कृतं वसन्त-  
वर्णनमनादृत्य चन्द्रवर्णितस्य राज्ञा प्रसंसनम् ।

प्रश्नः ६—के दोषाः कुत्रादोषाः कुत्र गुणाः कुत्र च दोषगुणर-  
हिताः ? इति सोदाहरणं लिखत ।

उ० ६—प्रसिद्धेऽर्थे निर्हेतुरदुष्टः । यथा—चन्द्रं गतेत्यादौ । अनुकरणे सर्वे  
दोषा अदोषाः । यथा—मृगचक्षुषमित्यादौ । अप्रयुक्तनिहतार्थो श्लेषादारुदुष्टो ।  
यथा—येन ह्यस्तमनोभवेनेत्यादौ । वक्त्राद्यौचित्यात् कचिद् दोषोऽपि गुणा  
भरति क्वचिन्न दोषो नापि गुणः । यथा—वैयाकरणादौ यत्परि प्रतिपाद्ये च  
रौद्रादौ रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः । 'दीधीङ्गेवीङ्मम' इत्याद्युदाहरणम् । नीरसे  
न गुणो नापि दोषः । यथा—दीर्घीघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्' इत्यादौ । अक्षीलं मुरता-  
रम्भगोष्ठ्यां शमकधाम् गुणः । यथा—हरिदस्तेनेत्यादि, उत्तानोच्छ्रानमण्डूके-  
त्यादि च । सन्दिग्धमपि वाच्यमहिता कचिन्नियतार्थप्रतीतिरूपेण व्याजस्तुतिपर्य-  
वसायित्वे गुणः । यथा—शृङ्गकर्तस्वरपात्रमित्यादौ । प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञेये

स्वयं परामर्शं वाऽप्रतीति गुण । यथा—‘आत्मारामा’ ‘यदधिकदशने’त्यादि ।  
 अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुण । यथा—‘गुप्सोत्कर कलमभक्तनिभमित्यादि ।  
 न्यूनपदं क्वचिद्गुण क्वचिन्न गुणो नापि दोष । गाढास्त्रिद्वनेत्यादि, तिष्ठेत् कोप-  
 वशादित्यादि च क्रमेणोदाहरणम् । अधिकपद क्वचिद् गुण । यथा—‘वद् वद्  
 जित’ इत्यादौ कथितपद एगनुप्रासे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये विहितस्यानुवा-  
 द्यवे च । ‘सितकरकररुचिरविमा’ । ‘तदा जायन्ते गुणा’ । ‘मितेन्द्रियाव विनयस्य  
 कारणम्’ इत्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि । एत प्रकर्षं क्वचिद् गुण , यथा—‘प्राग  
 प्राप्ते’यादौ । समासपुनरास्त न क्वचिदोष नापि गुण । यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं  
 पुनर्ग्रहणमपि तु वाक्यान्तरमेष क्रियते । यथा—‘प्रागप्राप्ते’त्यादौ । अपदस्थ  
 समास क्वचिद् गुण यथा—‘रक्षाशोके’यादौ । गभितमपि क्वचिद् गुण ।  
 यथा—‘भवाभ्यपहस्तितरेख’ इत्यादि । क्वचित् सञ्चारिण स्वपदोक्तावपि न  
 दोष । यथा—‘जीसुक्पयेन कृतवरा’ इत्यादि । प्रकृतरसपरिपोषकृतो विरुद्धस्य  
 सञ्चार्यविवाध्यत्वेनोक्तिगुणाग्रहा भवति । यथा—‘काकर्यं शशरूपमण’ इत्यादौ ।

प्रश्न ७—रसयोर्विरोधपरिहार कथं भवति ?

उ० ७—रसयोर्विरोधो द्विविधोऽस्ति दैशिक कालिकश्च । ययोर्दैशिको विरो-  
 धोऽस्ति तयोरेको भिन्नसमय कार्य । ययो कालिको विरोधोऽस्ति तयोर्मध्ये  
 भिन्नो रसो निवेशनीय । यथा वीरभयानकयोर्दैशिकविरोधोऽस्ति तस्माद्  
 भयानक शत्रुगतयेन वर्णनीय । शान्तशृङ्गारयो कालिकविरोधोऽस्ति तत्राग्न्यो  
 रसो मध्ये निवेश्य । यथा नागानन्दनाटकं शान्तस्य जीमूतवाहनस्य ‘अहो  
 गीतम्’ ‘अहो वादित्रम्’ इत्यव्युत्तमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो निषङ्ग ।  
 किञ्च—विरुद्धोऽपि कश्चित् रस प्रधानरसेन सह स्मर्यमाणश्चेत् न दुष्ट ।  
 साम्येन निवर्तितोऽथवा प्रधानरसोपकारको विरुद्धो न दुष्ट । ‘अथ स रसनो-  
 र्वर्पी—‘दन्तचतानि करजैश्च’—‘आमन्त्य चतकोमलाङ्गुलिगलद्रुचै’ इत्या-  
 दीनि क्रमेणोदाहरणानि ।

प्रश्न ८—‘यत्तदोर्नित्य सम्प्रत्य स्पष्टीक्रियताम् । अथवा ‘अपाङ्ग-  
 संसर्ग’ इत्यादिपद्ये योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिरुक्तं कथम् ?

उ० ८—प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादान नापेक्षते ।  
 ‘कातर्यं केवला नीति’—‘द्वय गत सप्रति’—‘उत्कम्पिणी’ इत्यादीन्युदाहरणानि ।

एवमुत्तरवाक्ये गृहीतो यच्छब्दः पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते । यथा—‘साधु चन्द्रमसि पुष्करैः’ इत्यादौ पूर्वं पठितस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं नूनमपेक्षते । कचिदुपादानेऽपि सामर्थ्याद् द्वयमपि प्रतीयते । यथा—‘ये नाम केचिदिह’ इत्यत्र य उत्पस्यते तम्प्रतीति गम्यते । एवञ्च ‘अपाङ्गसंसर्गि’ इत्यादिपद्ये यच्छब्दस्तच्छब्दानुपादानात् साकाङ्क्षः । न चादृशशब्दोऽपि तच्छब्दार्थं प्रतिपादयतीति वाच्यम् ‘असौ मरुद्भुग्वित’ इत्यादौ तच्छब्दार्थप्रतीत्यभावात् । इतरथा ‘करवालकरालेभ्यादौ ‘स’ इत्यस्यानर्थक्यं स्यात् । ननु ‘योऽद्विकल्पमित्रमर्थमण्डलम्’ इत्यत्र यथा हृदं शब्दस्तच्छब्दार्थमाह तथाऽदृशशब्दोऽपि कथमिदमहंतीति चेन्नात्रैव वाक्यान्तरेऽहसो ग्रहणं कार्यं न तु तत्रैव । यच्छब्दस्य समीपे स्थितस्तु प्रसिद्धिं परामृशति । यथा—‘यत्तदूर्जितमत्युग्रमि’त्यादिपद्ये । न च ‘कल्याणानां स्वमसी’त्यादिपद्येऽद्विमृष्टविधेयांशोऽपरिहायो यच्छब्दस्यैकस्य निराकाङ्क्षत्वेऽपि द्वितीयस्य साकाङ्क्षत्वादिति वाच्यम्, यद्यदिति येन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं धरत्वाच्चित्तं तथाभूतमेव तच्छब्देन परामूरयते ।

प्रश्नः ९—अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादिवाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम् । न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि । न च केन केनेत्यादिप्रश्नः । उपरितनं सन्कर्म स्पष्टयत ।

उ० ९—अत्राभवन्मतयोगोदाहरणे ‘सङ्प्रामाङ्गणमागतेने’त्यादिपद्ये यदि कोदण्डादय आकर्णनक्रियाया कर्माणि तदा कोदण्डं शरानिति द्वितीया प्राप्नोति ‘कर्मणि द्वितीया’ इत्यनुशासनात् । यदि कोदण्डादीनां वाक्यार्थविधयाऽन्वयस्तर्हि ‘यो यो वीरः समायातः’ इत्यादिवत् ‘कोदण्डः शरा’ इति प्रथमा स्यात् कर्मत्वाद्यभावात् प्रातिपदिकार्थभावे प्रथमाविधानाच्च । ननु यच्छब्देन कोदण्डादिरयं प्रतीयते ततश्च यथा यच्छब्दात् तृतीया तथैव कोदण्डादितस्तृतीया युक्तैवेति चेन्न तथा सति कोदण्डादीनां पुनरुपादानं घटो घट इतिवत् व्यर्थं स्यात् । न च कोदण्डादेर्यच्छब्दार्थो विशेषणमथवा यच्छब्दार्थस्य कोदण्डादिविशेषणमिति वाच्यम्, आद्ये येन कोदण्डेन यत् शराः समासादितं तत् आकर्णयेति वाक्यार्थपर्यवसानेन ‘केन कोदण्डेन के शराः’ इति विशेषाकाङ्क्षा अनिवृत्तिप्रसङ्गः । कोदण्डेन येन यत् शराः समासादितं तदाकर्णयेति द्वितीयकल्पेऽपि

पूर्वोक्त एव दोषः । ननु येन यदिति सामान्यतो बोधे केन केन किमिति विशेष-  
प्रश्ने सति तच्छान्त्यर्थं कोदण्डेन शरा इत्याद्युक्तमिति चेन्न केन केनेति प्रश्नाभावात् ।

प्रश्नः १०—‘नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण’ इत्यस्य क आशयः ।

उ० १०—ननु भग्नप्रक्रमे तस्यैव शब्दस्य प्रयोगः कर्तव्य इति यदुक्तं तद्  
वदतो व्याघातं नातिशेते तादृशस्थले कथितपदाङ्गीकारात्, इति चेन्नोद्देश्यप्रति-  
निर्देश्यभिन्नस्थलं पूर्वैकपदप्रयोगनिषेधस्याङ्गीकारात् । तद्विषये तस्यैव शब्दस्य,  
सर्वनामो वा प्रयोगं विना दोषाङ्गीकारात् । यथा—‘उदेति सविते’त्यादिपद्ये  
उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावसत्त्वात् तच्छब्दस्यैव पुनरुपादानम् । रक्तादिपदग्रहणे  
अर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिरित्यगयेदिति ।

इति सप्तमोऽङ्काः ।



## अथ अष्टमोल्लासः

प्र० १—गुणालङ्कारयोरन्यमतनिराकरणसहितं सलक्षणमन्तरं प्रतिपादयत ।

उ० १—ये प्रधानस्य रसस्य धर्मा सन्ति । यथाऽऽमन शौर्यादयो धर्मा सन्ति । ये च रसोत्कर्षस्य हेतुभूता । ये च रस विना नावतिष्ठन्ते ते गुणा इत्युच्यन्ते । शौर्यादयो धर्मा आमन एव न तु शरीरस्यैवमेव माधुर्यादयो रसस्यैव धर्मा न तु वर्णानाम् । ये शब्दार्थद्वारेण समन्विन रस कदाचिदुपकुर्वन्ति न तु सर्वदा । यथा हारादयः कण्ठाद्यज्ञानामतिसयाधानद्वारेण आमनोऽप्युपकारका स्वार्थैव शब्दार्थद्वारेण ये कदाचित् समन्विन रसमुपकुर्वन्ति तेऽनुप्रासोपमादयोऽलङ्कार इति नाम्ना व्यवहियन्ते । गुणा रस विना नावतिष्ठन्तेऽलङ्कारा अवतिष्ठन्ते । गुणा सर्वदा रसोपकारका अलङ्कारा कदाचिदेवेति गुणालङ्कारभेदः । मनु गुणालङ्कारयोर्गङ्गुलिकाप्रवाहणैव भेदः । समवायवृत्त्या अपृथक्स्थित्यात्मकसमवयवधन शौर्यादयः, सयोगेन हारादय इति गुणालङ्कारभेदस्य भोज प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनाञ्चोभयेषामपि समवायवृत्तिदर्शनेन व्यभिचारादिति चेन्न, गुणालङ्कारयोरक्षरीत्याऽकाव्यभेदसत्त्वात् । न च 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशय हतवस्त्वलङ्कारा इति गुणालङ्कारयोर्लक्षण स्यादिति वाच्यम्, समस्तैर्गुणैः काव्य व्यवहार आहोस्वित् कतिपयै ? नाद्येऽसमस्तगुणा गौडी पाञ्चाही च रीति कथं काव्यस्यामा, वामनमते—'रीतिरामा काव्यस्य' इति काव्यलक्षणात् । 'अल्प अत्रावत्रे त्यादिपद्येऽलङ्काराभावेऽपि औप प्रभृतिगुणानां सत्त्वात् काव्यव्यवहारः प्राप्तिः । अलङ्कारलक्षणमपि वामनोक्तं न युक्तं 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव' इत्यत्र गुणाभावाद् गुणकृतशोभातिशयहेतुत्वाभावादलङ्कारस्य । गुणनिरपेक्षौ विशेषोक्तिव्यतिरेकावेव 'स्वर्गप्राप्ति रित्यादिपद्ये काव्यव्यवहारस्य प्रवर्तकौ ।

प्र० २—गुणा कति सन्ति ? कस्मिन् २ रसे तेषां स्थितिः ? किञ्च तेषां लक्षणम् ?

उ० २—गुणाश्च सन्ति माधुर्यौज प्रसादाख्या । 'आह्लादकत्वं माधुर्यं गद्गारे दुतिकारणम्' अर्थात् मुतिकारणम् आह्लादकरत्वं नाम आनन्दस्वरूपत्वं माधुर्यं

मुच्यते । अयं गुण सम्मोक्षद्वारे, करुणे, विप्रलम्भे, शान्ते च क्रमेणातिशयाथा-  
यको भवति । 'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्द्वेतुरोजो वीररसस्थिति' दीप्तिरूपा या आत्मन-  
श्चित्तस्य विस्तृतिस्तस्य हेतु । अयमपि धीरे, वीर्ये, रौद्रे क्रमेणाधिक । 'शुष्के-  
न्धनामिश्रत् स्वच्छजलवत् सहस्रैव य व्यामोत्यन्यत् प्रसादोऽमी सर्वत्र विहित-  
स्थिति ॥' इति प्रसादलक्षणम् ।

प्र० ३—प्राचीनोक्तानां दशशब्दगुणानां दशार्थगुणानाञ्च कथं  
त्रिषु गुणेष्वन्तर्भावः ?

उ० ३—बहुना पदानामेकपदवद्भासनरूपो य श्लेषः, यश्च गाढताशिथिल-  
ताक्रमरूप समाधिः, या च विकटचलक्षणा उदारता, यश्चानौमिश्रितशैथिल्यरूप  
प्रसादः, तेषामोजस्यन्तर्भावः । पृथक्पदत्वरूप माधुर्यं प्रस्फुरास्तेरज सादात्पा-  
त्तम् । प्रसादेनार्थग्यक्षिप्ररितार्थाः । यथा रीत्याऽरब्ध तयैव समापनमिति मार्गा-  
भेदरूपा समता क्वचिदोप । यथा—'मत्तज्ञा किमु वस्तिरतै' इत्यादौ सिंहाभि-  
धाने मधुगमार्गाद्यामो गुण कष्टत्वप्राप्त्यन्तयोर्द्वेषेण गणनादपारूप्यरूप सौकुमार्यं  
सौम्यवत्त्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता । इत्थं दशशब्दगुणानामन्तर्भावो भवति । पञ्च  
विधा प्रौढिरस्ति । १-यथा पदार्थे वाक्यरचनम् चन्द्र इति वक्तव्ये 'अत्रिलोचन  
समूत ज्योतिः' । वाक्यार्थे पदस्याभिधानम् । २ पूर्वस्य वैपरीत्यमुदाहरणम् । ३-  
एकवाक्यार्थरूपानेकवाक्येन प्रतिपादनम् । ४-अनेकवाक्यार्थस्यैकवाक्येन प्रतिपाद-  
नम् । ५ विशेषणस्य सार्थकत्वम् । इयं प्रौढिर्यदोज इत्युक्तं तद् वैचित्र्यमात्रं न तु  
गुणः । तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः । अपुष्टार्थनिराकरणेन सामिप्रायवरूप  
मोहः, अधिकपदत्वनिराकरणेनार्थवैमल्यस्याप्राप्तिः प्रसादः, अनधीकृतनिराकरणेन  
उक्तिवैचित्र्यरूप माधुर्यम्, अमङ्गलरूपाश्लीलनिराकरणेन अपारम्पर्यरूप सौकुमा-  
र्यम्, अप्राप्त्यरूपोदारता च प्राप्त्यनिराकरणेन स्वीकृता । स्वभावोक्त्यलङ्कारेण  
अर्थव्यक्तिः, रसध्वनिना रसवदलङ्काररूपगुणीभूतव्यङ्ग्येन च दीप्तरसरूपा  
कान्तिः, क्रमस्य योऽतिक्रमस्तस्य याऽस्फुटता तत्र या युक्तिस्तत्सम्बन्धरच-  
नारूप श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम् । अत्रैवम्यरूपा समता दोषाभावो न ॥ गुणः ।  
अर्थदशानरूपो य समाधिः न गुणो यतो ह्यन्येनाध्वनिनस्य वर्जितस्य वाऽर्थ-  
स्यानुसन्धानं विना काव्यनिर्माणं न भवितुमर्हति । काव्यशरीरकारणं गुणो न  
भवितुमर्हति तस्मादर्थगुणा अपि पृथङ् न वक्तव्याः ।



प्र० ४—कस्य गुणस्य के वर्णा व्यञ्जका इति सोदाहरणं प्रतिपादयन् ।

उ० ४—टठडढवर्जिताः कादयो भान्ता निजवर्गान्वययुक्ताः शिरसि, तथा ह्रस्वस्वरयुतौ रेफगकारौ अहंपसमासो मध्यमसमासो वा तथा च माधुर्यवती रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका भवति । यथा—अनङ्गरत्नप्रतिममित्यादि । आद्यतृतीयाभ्यां सह द्वितीयचतुर्थयोः सम्बन्धः । तथा रेफस्याद्य उपरि उभयत्र वा सम्बन्धः । समानाकारयोः कयोश्चित् संग्रोगः । टठडढाः शकारः पकारो दीर्घसमासो विकट-रचना च भोजोनामकरस्य गुणस्य व्यञ्जिका भवति, यथा—मूर्धामुद्घृत्तकृत्तेत्यादि । येन शब्देन समासेन रचनया वा अवणमात्रेणार्थज्ञानं भवेत् स प्रसादव्यञ्जकः । यथा—परिष्कानं पीमस्तनजघनैत्यादि ।

प्र० ५—रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वं कथं भवतीति सोदाहरणं प्रतिपादयत ।

उ० ५—यद्यपि रचनाद्वयो गुणाधीनास्तथापि वक्त्रौचित्यात् वाच्यौचित्यात् प्रबन्धौचित्याच्च क्वचिद् रचनादीनामन्यथात्वमपि भवति । यथा—‘मध्यायस्ता-प्याम्भः’ इत्यादि ‘प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलन’ इत्यादि च । आद्ये भीमसेनो वक्त्रा द्वितीये तु वाच्यं-कुम्भकर्णोत्तमार्ग-तदपेक्षया रचना । एवं प्रबन्धापेक्षयाऽऽख्यादि-कायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः । कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः । भाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः ।

इत्यष्टमोऽङ्काः ।



## अथ नवमोल्लासः

प्र० १—वृत्तयः कति भवन्ति, किञ्च तासां लक्षणं, किञ्चोदाहरणम्?

उ० १—रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः । तिस्रो वृत्तयः सन्ति । उप-  
मागरीका परया कोमला च । 'माधुर्येन्यञ्जकैर्वर्णैरपमागरीकोच्यते', 'भोज.प्रका-  
शकैस्तु परया' 'कोमला परैः' इति क्रमेण लक्षणानि । माधुर्यौजोगुणयोरेव वदाह-  
रणे ते आद्ययोरुदाहरणे । कोमलायास्तु—'अपसारय घनसारमि'त्यादिकम् । एता  
एव वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाळीति नाम्ना क्रमेण व्यपदिश्यन्ते । कोमला तु ग्राम्येभ्यपि  
मण्यते वृत्तिरेव रीतिरिति कथ्यते ।

प्र० २—सलक्षणान् सभेदान् सोदाहरणान् शब्दालङ्कारान् प्रति-  
पादयत ।

उ० २—अस्योत्तरं निम्नप्रकोष्ठे द्रष्टव्यम् ।

| अलङ्काराः       | लक्षणानि                  | भेदाः   | उदाहरणानि                           |
|-----------------|---------------------------|---|-------------------------------------|
| वक्रोक्तिः      | यदुक्तमन्यथे              | १ श्लेषेण<br>२ काकवा                            | नारीनामनुकूलमाचरसि<br>शुक्लनेत्यादि |
| अनुप्रासः       | वर्णसाम्यम-<br>नुप्रासः   | छेकानुप्रासः<br>वृत्त्यनुप्रासः<br>लाटानुप्रासः |                                     |
| छेकानुप्रासः    | सोऽनेकस्य<br>सकृत् पूर्वः |   | ततोऽङ्गपरिरपन्देति                  |
| वृत्त्यनुप्रासः | एकस्याप्यसु<br>कृत् परः   |   |                                     |
| लाटानुप्रासः    | शब्दस्तु                  | १ पदानाम्                                       | यस्य न सविधे०                       |

| अलङ्कारः    | लक्षणाणि                               | भेदाः  | उदाहरणानि   |
|-------------|--|--|---|
| (पदानुपासः) | लाटानुपासः                             | २ पदस्य<br>३ एकसमासे<br>४ मित्रसमासे<br>५ समासासमासयोः<br>( प्रातिपदिकस्य )  | वदन वरवर्णिन्याः<br>सितकरकरेति-   |
| यमकम्       | अर्थे सत्यर्थ-<br>मित्रानामि<br>त्यादि | इदं पादजं नवभेदम्, द्विधा<br>विभक्ते पादे विद्यतिभेदम्,<br>त्रिखण्डे त्रिष्टय, चतुःखण्डे<br>चत्वारिंशद, प्रथमपादस्य<br>सुतीयपादयमने-<br>प्रथमस्य द्वितीये तुतीयस्य<br>चतुर्थे-<br>श्लोकान्यासे<br>द्वितीयपादान्तभागस्य चतु-<br>र्थपादान्तभागयमने-<br>आदिभागस्यान्तभागयमने-<br>आद्यन्तिक पूर्वाधे-उत्तरार्धे<br>आद्यन्तिकप्रस्तादिकं चेति<br>द्वयोरेष्यर्धयोराद्यन्तिकान्ता-<br>दिके च०<br>अनियतत्वानावृत्ति० | सन्तारीभरणोमायम्<br>विना धमेनोनयता<br>सुखादिना-<br>सत्वारम्भरतो-<br>अनन्तमहिमन्वाप्त-<br>वदानतोऽयदानतः ।<br>सरस्वती प्रसाद मे-<br>ससारसाकमित्यादि-<br>मधुपराजोत्पादि० |
| श्लेषः      | वाच्यभेदेन<br>मित्रा यत्               | वर्णं पद लिङ्ग भाषा प्रकृति<br>प्रत्यय विभक्ति वचनभेदात्<br>प्रकृत्याषष्टभेदाभावात्<br>नवविधः ।<br>१ वर्णे-<br>२ पदे-<br>३ लिङ्गे-<br>४ भाषायाम्-<br>५ प्रकृतौ-<br>६ प्रत्यये-   | अलङ्कारः शङ्काकरेति०<br>पृथुर्गार्ग्यस्वरपात्रम्०<br>भक्तिप्रहेति०<br>महदे सुरसंधम्मे०<br>अय सर्वाभि०<br>रजनिर्मणमौलेः०   |

| अलङ्काराः            | लक्षणानि  | भेदाः  | उदाहरणानि   |
|----------------------|---|--|---|
| विभक्तम्             | तच्चित्रं यत्र<br>वर्णानामिति                             | ७ विभक्ती-<br>८ वचने-<br>९ प्रकृत्यादिनेदामावे-<br>मङ्ग-<br>सुरजे-<br>पद्मे-<br>सर्वनोमद्रे- | सर्वंश्च हरेति-<br>मत्तिष्ठेति-<br>योऽमकृत्य परमो नामान्-<br>मारारिशङ्केति-<br>सरला बहुलारम्भेति-<br>भासते प्रतिभासारेति-<br>रसासाररसेति- |
| पुनरुक्तवदा-<br>मासः | पुनरुक्तवदा<br>मसो विभि<br>न्नाकाराश्च<br>मा । एक-<br>तेव | समस्तशब्दनिष्ठ-<br><br>अभङ्गशब्दनिष्ठ-<br><br>सम्बन्धनिष्ठ-                                  | अरिष्वदेहरीरः<br><br>न चकस्यन्नारामा-<br><br>तन्वपरजधन्योऽसी-   |

प्र० ३—‘अर्थभेदेन शब्दभेदः’—‘काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते’ अनयोः  
क आशयः ।

उ० ३—अयं भावः—‘सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति’ इति नये एक-  
शब्देनैकस्यैवार्थस्य प्रतीतिरर्थद्वयप्रतीत्यर्थं श्लेषस्थले एकाकारी द्वौ शब्दौ सन्  
इत्यवरयमङ्गीकार्यम् । तौ चैकेन प्रयत्नेनैकद्रोच्चार्यतया पृथक्तया नाभूयते । ननु  
भिन्नसमासानामिन्द्रशशुप्रभृतीनां श्लेषे उदात्तानुदात्तादिस्वरभेदादेककृतया  
भाष्यनमनुपपन्नमिति चेन्न, ‘काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते’ इत्यङ्गीकारात् । अतः  
एव ‘विभाषा छन्दसि’, ( १ । २ । ३६ ) इति पाणिनीयसूत्रे तन्मेग आधृत्या  
‘वाऽच्छन्दसीति’ नञं प्रश्लिष्य भाषायामपि वैकल्पिकी एकधुनिरङ्गीक्रियते ।

प्र० ४—अभङ्गश्लेषः शब्दालङ्कारोऽर्थालङ्कारो वा ? श्लेष उपमाद्य-  
लङ्कारवाचको न वा ? शब्दरूपोऽर्थरूपश्च श्लेषोऽर्थालङ्कारोऽस्ति न वा ?

उ० ४—ननु अभङ्गश्लेषः स्वरितादिगुणभेदाभावादेकप्रयत्नोच्चार्यत्वादर्थचन-  
कृतिमत्त्वाच्चाद्यर्थश्लेषः कथं नाभ्युपगम्यते इति चेन्न, दोषमुगालङ्कारविभागस्या-  
न्वयव्यतिरेकानुविधानित्वात् । शब्दपरिवृत्तिसह ‘स्तोत्रेनोच्चतिभाषाति’ इत्यादा-  
येवार्थश्लेषस्य सत्त्वात् । न चोपमादीनां श्लेषार्थङ्गीर्णतया श्लेषस्य चालङ्कारान्त-

रसंकीर्णतयोपमाचलङ्कारबाधकः श्लेष इति वाच्यम्, गुणक्रियासाम्यवच्छेदसाध-  
स्याप्युपमाप्रयोजकत्वात्, 'स्फुटमर्थालङ्कारावेतौ' इति रुद्रटोक्तत्वाच्च । ननु 'रस-  
लमिव मुखम्' इत्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति चेन्न, पूर्णोपमाया  
निर्विषयत्वात् । 'देव त्वमेव पातालम्' इत्यादिः श्लेषस्य उपमाचलङ्कारभिन्नो  
विषयोऽस्ति । द्वयोर्योगे संकरः । वस्तुत उपमाव्यपदेश एव घलीयान् प्राधान्येन  
व्यपदेशा भवन्तीति नियमात् । श्लेषं विना साधारणधर्मसम्भवो नास्ति ।  
साधारणधर्मं विना च नोपमा भवितुमर्हति 'साधर्म्यमुपमा भेदे, इति तद्वचनात् ।  
'अभिन्नुसुन्दरी मित्यं गलल्लावण्यविन्दुका' इत्यादौ विरोधज्ञानोत्पत्तिहेतुः  
श्लेषो नास्ति प्रत्युत श्लेषज्ञानोत्पत्तिहेतुको विरोधोऽस्ति । न ह्यत्रार्थद्वयप्रति-  
पादकः श्लेषो द्वितीयार्थस्य प्रतिभासमात्रस्य शाब्दबोधाविषयत्वात् । मनूभयवि-  
धश्लेषस्यार्थालङ्कारत्वं स्यादिति चेन्न वदतो व्याघातात् । शाब्दश्लेषः कथ्यतेऽर्था-  
लङ्कारमध्ये गण्यते । किञ्च चमत्कारजनकता यत्र भवेत्तस्यैवालङ्कारता युक्त्य,  
शब्दस्य चमत्कारित्वे शाब्दालङ्कारतैवोचिता । अर्थसापेक्षत्वाद्यत्र शब्दानामर्थश्लेष  
इति चेदनुपमासादीनामभ्यर्थालङ्कारतापत्तेः । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यास इति व्युत्प-  
त्त्यनुसारमनुपमासो रसव्यञ्जकं स्वरूपमपेक्षते रसार्थं विना न भवतीति तात्पर्यम् ।  
शाब्दगुणदोषालङ्काराणामर्थपेक्षयाऽर्थगुणदोषालङ्काराणां शब्दापेक्षया व्यवस्थिति-  
रिति तेऽपि क्रमेणार्थगतत्वेन च भण्येरन् । अन्यच्च—'विधौ वक्त्रे मूर्ध्नि' इत्यादौ  
वर्णादिश्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वाच्छब्दभेदेऽप्यर्थश्लेषत्वं प्रसज्येत तस्मादभ्रश्लेषोऽ-  
र्थालङ्कार एवालङ्कारान्तरस्य चाबाधक एवेति स्थितम् ।

इति नवमोऽङ्काः ।



## अथ दशम उल्लासः ।

प्र० १—सलक्षणान् समेदान् सोदाहरणान् अर्थालङ्कारान् प्रतिपादयत ।

उ०—१ अस्योत्तरं निम्नप्रकोष्ठे द्रष्टव्यम् ।

| अलङ्कारनाम | लक्षणानि              | मेदाः  | उदाहरणानि  |
|------------|-----------------------|--|--|
| १. उपमा    | वाचन्यंमुपमा<br>मेदे- | वाक्यगतश्रौता-<br>वाक्यगताधी-<br>समासगतश्रौती-<br>समासगताधी-<br>तद्धितग-श्रौती-<br>तद्धितगताधी-<br>वाक्यगतउपमंमुपमा श्रौती-<br>वाक्यगताधी धर्म०-<br>समासगतश्रौती धर्म०-<br>समासगताधी धर्म०-<br>तद्धितगताधी धर्म०<br>वाक्यगतोपमानमुपमा(वाधी)-<br><br>उपमाप्रतिपादकलोपे<br>( द्विपदसमासगा )-<br>बहुपदसमासगा उपमा-<br>कर्माधिकरणदोःपदचि क्यङि-<br>चोपमाप्रतिपादकलोपे-<br><br>कर्मणि कर्तारि च-<br>णमुत्पुपमाप्रतिपादकलोपे-<br>धर्मवाच्यलोपे किप्-गता<br>समासगता च<br>धर्मोपमानयोर्लोपे-मनामगा | स्वप्नेऽपि समरेषु १०<br>चटितहरिजलोह०<br>अत्यायनैर्निदमकारिमि०<br>वविनयमनोरथपथ०<br>गम्भीरवर्गरिमा०<br>दुरालोकः स समरे०<br>धन्यस्यानन्दमामान्य०<br>आकृष्टकरवाजोऽमी०<br>करवाल इषाचार०<br>नस्य वाग्वृत्तोरमा०<br>विषकक्षदन्०<br>मकुलकरणपरविभ्रामेति०<br>कम्बुममनिनिपाठे सरि<br>समिन्धव जूगमिति पाठे<br>च सप्रामगा०<br>ननः कुमुदनाथेन०<br><br>भसितमुखा०<br>पौर सुनीवति-<br>जन समरान्तरे०<br><br>मृधे निदाषधर्माद्यु-<br>दधन्०<br>सविना विषवति०<br>परिपन्थिमनो०<br>दुग्धपायमानः० |

| अलङ्कारनाम         | लक्षणानि                                | भेदाः  | उदाहरणानि  |
|--------------------|---|--|--|
|                    |   | वाक्यगा च—<br>वाच्यपमेयलोपे क्वचि-<br>उपमेयातिरिक्तधितयलोपे  | कुक्षमेग सममिति पाठे<br>वाक्यगा०<br>भरातिविक्रम०<br>तन्निमनि कृतावशोरना०<br>न केवल भाति०<br>न केवल भाति मिता०<br>कान्तिः०<br>कमलेऽ मन्मिनि०<br>रिव कमला० |
| २. अनन्वय          | उपमानोपमे<br>यत्वे एवस्यै<br>वैकवाक्यगे |  |  |
| ३ उपमेयोमा         | विपर्यास उप<br>मेयोपमा<br>तयो           |  |  |
| ४ उत्प्रेक्षा      | सम्भावनम-<br>धोत्प्रेक्षा               |  | वन्मेव यो मम न सहते०   |
| ५ सन्देहः          | ससन्देहस्तु<br>भेदोक्तौ                 | १ भेदोक्तौ निधयगभं-<br>२ भेदोक्तौ निधयान्न-<br>३ भेदानुक्तौ-   | अयं सातंष्टः किं स खलु<br>इदं किं क वल्लभ०<br>अस्याः सगविधौ प्रभा<br>पतिरभूत्०   |
| ६ रूपकम्           | तद्रूपकमभेदो<br>य उपमानो<br>पमेययोः     | १ समस्तवस्तुविषयरूपकम्-  | ज्योत्स्ना भरमंशुता<br>धवला०   |
| एकदेशविबन्धि       | श्रीता आर्वा<br>शते-                    | २ एकदेशविबन्धिरूपकम्-<br>३ निरञ्जरूपकम्-<br>४ निरञ्जमालारूपकम्-<br>५ छिष्टमालापरम्परित<br>रूपकम्-<br>६ अछिष्टमालापरम्परित<br>रूपकम्-<br>७ छिष्टकेवलपरम्परित<br>रूपकम्-<br>८ अछिष्टकेवलरूपकम्-<br>९ रञ्जनारूपकम्- | यस्य रणान्तःपुरे वरे०<br>कुरङ्गीवाङ्गानि०<br>सौन्दर्यस्य नरङ्गिणी०<br>विदग्धमनसहम०   |
| परम्परित<br>रूपकम् | नियतारोवणो-<br>पाय-                     |  | आलोकं प्रदकुञ्जरस्य०<br>अलोचिकमहालो०   |
| ७ अपहृतिः          | प्रहृतं यन्निवि-<br>ध्यान्त्यत्०        |  | निरवधि च निरामयं च०<br>विमलवदरेलनामान्<br>अवाप्तं प्रागस्यम्०  |

| धलङ्कारनाम             | लक्षणानि                          | भेदाः  | उदाहरणानि   |
|------------------------|-----------------------------------|--|---|
| ८ श्लेषः               | श्लेषः स चावये<br>एकस्मिन्-       |  | उदयमवते दिङ्मालि-यम्०   |
| ९. सामासोक्तिः         | परोक्तिर्भेदकैः<br>दिलष्टे०       |  | एकधा तव बाहुरपशम्०  |
| १०. निदर्शना           | अभवन् वस्तु<br>सम्बन्धः-          |  | क सूर्यप्रभवो वनः०  |
| निदर्शना<br>(अपरा)     | स्वरवहेत्स्वन्व<br>यस्योक्तिः-    | मालाख्या निदर्शना-   | दोभ्यां त्रितीर्यति०<br>उन्नतपदमयाप्य यो लघु ०  |
| ११ अप्रस्तुत<br>प्रशसा | अप्रस्तुतप्रशसा<br>या सा-         | १ कार्ये प्रस्तुते कारणस्य<br>वर्णनम्-<br>२ कारणे प्रस्तुते कार्यस्य<br>वर्णनम्-<br>३ सामान्ये प्रस्तुते विशेषस्य व<br>४ विशेषे प्रस्तुते सामान्यस्य व<br>५ श्लेषहेतुकाप्रस्तुतप्रशसा-<br>समासोक्तिहेतुकाप्रस्तुत<br>प्रशसा-<br>सादृश्यमात्रहेतुकाप्रस्तुत<br>प्रशसा-<br>वाच्ये प्रतीयमानार्थान्वा<br>रोपेण-<br>अध्वारोपेण-<br>अश्लेषाध्वारोपेण- | याता किं न मिलन्ति०<br>राजन् राजद्वाना न पाठयति<br>पतच्छस्य मुखात् कियद्०<br>सुखद्वयभूवाग्जलप्रमार्जन०<br>पुस्तकादपि प्रविचलेद्०<br>येनास्यभ्युदितेन०<br>आशाय वारि परितः०<br>अश्वेरम्माः०<br>वस्त्वं मो कथयामि-<br>मोऽप्युर्वरसनाविपर्ययविधिः<br>कमलमनम्मसि०<br>अन्यत्त सौकुमार्यम्०<br>राकायामकलङ्कम्०<br>हृदयमपिष्ठिमादौ० |
| १२. अतिश<br>योक्तिः    | निगीर्थाध्यव<br>सानतु प्रकृत्यस्य | उपमानेन निगीर्णस्थोपमेय<br>स्याध्यवसानम्-<br>प्रस्तुतस्यान्यत्वम्-<br>यथार्थोक्तौ कल्पनम्-<br>कारणकार्ययोः पीर्वापर्य<br>विपर्ययः-   |   |



| अलङ्कारनाम          | लक्षणानि  | भेदा  | उदाहरणानि  |
|---------------------|---|---|--|
| १३ प्रति<br>वरतूपमा | प्रतिवस्तूपमा<br>सा, सामा<br>न्यस्य द्विरे<br>करय | अमाला प्रतिवस्तूपमा-  | देवीमाव गर्मता०  |
| १४ वृष्टान्त        | वृष्टान्त पुन<br>रेतेषां सर्वेषां<br>प्रतिवि०-    | माला प्रतिवस्तूपमा-<br>साधर्म्येण-  | यदि दहत्यनलोऽत्र०<br>स्वयि वृष्ट एव तस्या ०  |
| १५ दीपकम्           | सकृद्वृत्तिस्तु<br>धर्मस्य                        | वैधर्म्येण<br>क्रियादीपकम्  | तवाहवे सात्तकर्मशर्मण ०<br>कृष्णानां धन नागानां<br>कणमणि ०   |
| मालादीपकम्          | मालादीपक<br>माद्य वैद-                            | कारकदीपकम्<br>मालादीपकम्  | स्विपति कूगति०<br>सकृदमात्राणमागत्येन०   |
| १६ तुल्ययो<br>गिता  | नेपथानां सकृ<br>धर्म सा-                          | माकरणिकानां सकृद् धर्म  | पाण्डु क्षाम वदनम्०  |
| १७ व्यतिरेक         | उपमानाद्<br>यदन्यस्य-                             | अप्राकरणिकानां सकृद् धर्म<br>अस्मिन् हेत्वोक्तौ<br>शब्द साम्यम्-  | कुसुमकमलनील-<br>असिमात्रसहायस्य । अत्र<br>तुच्छेति महाभूतेरनयो<br>पयसिण शुगणद्-<br>वाऽनुपादाने भेदत्रयम् ।                                     |
| १८ आशेष             | निषेधो वक्तु<br>मिष्टस्य-                         | आर्म साम्यम्<br>अ० हे० आक्षिप्तं साम्यम्<br>स्मिन् हेत्वोक्तौ शब्द<br>साम्यम्<br>कि० हे० त० आर्म साम्यम्-<br>कि० आर्मसाम्ये मालाव्यति०<br>कि० हे० उ० आक्षिप्तं साम्यम्<br>वक्ष्यमाणविषय | असिमात्रसहायोऽपि०<br>एव धनयना०<br>वितेन्द्रियतया सम्यक्०<br>असुखमण्डल शोमान्०<br>हरवत् विषमदृष्टि ०<br>नित्योदितमतापेन०<br>ए एहि किमपि कस्या ० |
|                     |   | उक्तविषय -  | ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम०   |

| अलङ्कारनाम          | लक्षणानि                                    | भेदा  | उदाहरणानि  |
|---------------------|---|---|--|
| १९ विभावना          | क्रियाया प्रति<br>वेधेऽपि फल<br>व्यक्ति०    |   | कुसुमितलताभिरहताऽ<br>प्यवस०  |
| २० विशेषोक्ति       | विशेषोक्तिर<br>खण्डेषु का<br>रणेषु फलावय    | अनुक्तनिमित्ता<br><br>उक्तनिमित्ता<br>अचित्पनिमित्ता  | निद्रानिवृत्तादुदिने०<br><br>वर्पूर इव दम्भोऽपि०<br>स एकलोमि ज्वति०<br>एकक्षिणा वमसि चेतसि०  |
| २१ यथासत्यम्        | यथासत्यं क<br>मेनेव कृमि<br>कागा सम<br>न्वय |   |  |
| २२ अर्थान्तर<br>यास | सामान्य वा<br>विशेषो वा-                    | विशेषेण सामान्यस्य साध<br>र्म्येण समर्थनम्<br>मा० वि० साधर्म्येण समर्थनम्<br>विशेषे सा वैधर्म्येण समर्थनम्<br>मा० वि० वैधर्म्येण समर्थनम्-  | निबन्धोपाबन्धनमनसाम्०<br><br>सुसितवसनालङ्कारायाम्०<br>गुणानामेव क्षीरात्म्याय०<br>अहो हि मे वङ्गवराहमायुषा<br>भमिनवनलिनी०  |
| २३ विरोधा<br>भास    | विरोध सोऽ<br>विरोधेऽपि                      | १ जातेर्जात्या<br><br>२ जातेर्गुणेन<br>३ जाते क्रियाया<br>४ जातेर्द्रव्येण<br>५ गुणस्य गुणेन<br>६ गुणस्य क्रियाया<br>७ गुणस्य द्रव्येण<br>८ क्रियाया क्रियाया<br>९ क्रियाया द्रव्येण<br>१० द्रव्यस्य द्रव्येण | गिरयोऽप्यनुवृत्तिवृत्त ०<br>वैषा कण्ठपरिग्रहमगविताम्<br>सुजति च अगदिदमवति०<br>सतत मुनलासक्ता०<br>पेशक्रमपि खड्गवचनम्०<br>कौञ्चादिरुद्राम०<br>परिच्छदानात् ०<br>अथ वाराणसे निलय ०<br>समदमतद्रजमद०<br>पश्चादध्नी प्रसार्य० |
| २४ स्वभावोक्ति      | स्वभावोक्तिस्तु<br>हिम्मादे-                |   |  |

| अलङ्कारनाम           | लक्षणाणि                                       | भेदा   | उदाहरणानि   |
|----------------------|--|--|---|
| २५ न्यासस्तुति       | न्यासस्तुतिर्मु-<br>खे निन्दा-                 | स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा<br>निन्दापर्यवसायिनी स्तुति | हित्वा त्वामुरोववध्य<br>मनसाम्०<br>हे हेलाजितबोधिसत्त्व०<br>सहदिवसनिशाभिर्दोषा ०            |
| २६ सहोक्ति           | सा सहोक्ति<br>महार्थस्य-                       | अशोभन<br>शोभन  | अरुचिर्निश्चया विना०<br>मृगलोचनया विना०   |
| २७ विनोक्ति          | विनोक्ति सा<br>विनाऽन्येन-                     | समेन समस्य,<br>उत्तमेन न्यूनस्य च-<br>न्यूनोऽत्तमस्य | लनानामेतामामुदितकुसु<br>मानाम्०<br>नानाविधप्रहरणैर्नृप०                                     |
| २८ परिवृत्ति         | परिवृत्तिर्नि-<br>मित्तम -                     |  | भासीदजनमनेति पश्यामि०   |
| २९ भाविकम्           | प्रत्यक्षा इव<br>यद्भावा<br>क्रियते-           | वाक्यार्थता<br>अनेकपदार्थता<br>एकपदार्थता            | वधु प्रादुर्भावाद्यनुमित<br>मिदं जन्मनि०<br>प्रणयिसखीसखील-<br>भस्मोदधूलनमद्रमस्तु<br>भवेत्० |
| ३० काव्यश्रि-<br>तम् | काव्यश्रित-<br>हेतोर्वाक्य-<br>पदार्थता        |  | य प्रेक्ष्य विरूपाक्षि  |
| ३१ पर्यायोक्तम्      | पर्यायोक्त<br>विनावाक्य<br>वाचकत्वेन-          |  | मुक्ता केलिविस्मृप्रहार<br>गलिता ०<br>तदिदमरण्य यस्मिन्०                                    |
| ३२ उदात्तम्          | उदात्त वस्तुन<br>सम्पत्<br>महता चोप<br>लक्षणम् | असद्व्योग<br>सद्व्योग<br>सदसव्योग                    | दुर्वारा स्मरभार्गणा ०<br>कुलममलिनम्०<br>शशी दिवसधूसर ०                                     |
| ३३ समुच्चय           | तत्सिद्धिहेता<br>वेवस्मिन्                     |  |   |

| अलङ्कारनाम      | अलङ्कारनाम                            | भेदाः   | उदाहरणानि   |
|-----------------|---------------------------------------|---|---|
|                 | स त्वन्वो यु<br>गपद् वा<br>युगक्रियाः | गुणयोगपदम्<br><br>क्रियायोगपदम्<br>युगक्रियायोगपदम्-  | विदत्तिवसकटारिकुम्भम्०<br><br>अयमेकपदे तथा०<br>कलुष च तत्राहिष्ठेयक-<br>रमात्०<br>मन्वाश्रयस्थितिरियं तव० |
| ३४. पर्यायः     | एकं क्रमेणाने-<br>कस्मिन्<br>पर्यायः  | एकमनेकत्र भवति<br><br>एकमनेकत्र क्रियते<br><br>अनेकमेकत्र भवति<br>अनेकमेकत्र क्रियते  | नक्षत्रां श्रोतृश्रोतारता<br>भरते०<br>मधुरिम्बस्त्रिं वचः०<br>तद्देहं ननुमिति०<br>यथैवा लहरीचकाचम्भुयः०   |
| ३५. अनुमानम्    | अनुमानं तदुक्त-<br>यद्-               |   | महीवसो मानयता०  |
| ३६. परिकरः      | विशेषनैयं<br>साकूषेभक्तिः-            |   | शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान-<br>गिरिजा०  |
| ३७. व्याप्नोतिः | व्याप्नोति-<br>इच्छन्तो-<br>द्रिष्ट०  |   | किमासेवं पुमान्०  |
| ३८. परिसंख्या   | किञ्चिन् पृष्ट-<br>मपृष्ट वा०         | प्रश्नपूर्वकप्रतीय-<br>मानव्यवच्छेदा०<br>प्रश्नपूर्वकवाक्य-व्यवच्छेदा<br><br>अप्रश्नपूर्वकप्रतीय-<br>मानव्यवच्छेदा०<br>अप्रश्नपूर्वकवाक्य-<br>व्यवच्छेदा- | किं भूतं सुहृदमत्र यशो<br>॥ १८८०<br>कौटिल्यं कचनिबदे०<br>मत्तिमंवे न विमवे०                               |
| ३९. कारणमाला    | यथोत्तरं चेद-<br>पूर्वस्व०            |   | चित्तेन्द्रियत्वं विनयस्य<br>कारणम्०  |

| अलङ्कारनाम    | लक्षणानि                                      | भेदाः   | उदाहरणानि  |
|---------------|---|---|--|
| ४०. भन्दो यम् | क्रियया तु<br>परस्परम्०                       |   | हंसानां सरोमिः धीमन् ३   |
| ४१. उत्तरम्   | उत्तरश्रुतिमा<br>प्रतः प्रक्ष<br>स्योन्नयनम्० | श्रुतिमात्रतः प्रदनस्योन्न-<br>यनम्-<br>असकृत् पदने सति<br>असम्भाव्यमुत्तरम्-   | वानिब्रह्म हस्तिदन्तः-<br>कुतः०<br>का विषमा दैवगतिः-                                       |
| ४२. सूत्रम्   | कनौऽपि लक्ष्मिः<br>मूक्तोऽप्यर्थः             |   | वक्त्रस्थान्द्रित्वेदविन्दु-<br>प्रबन्धेः०   |
| ४३. सारः      | उत्तरोत्तरम्<br>स्वार्थो भवेत्<br>सारः-       |   | राज्ये सारं वदन्ना०  |
| ४४. असङ्गतिः  | भिन्नदेशान्<br>धाऽत्यन्तम्-                   |   | यत्प्रेष मगस्तत्प्रेष वेदना०   |
| ४५. समाधिः    | ममाधिः सुकरं<br>कार्यं कार-<br>णान्तर०        |   | मानमस्या निराकर्तुम्०  |
| ४६. समः       | सम योग्यत<br>या योगः-                         | सद्वोगः<br>असद्वोगः   | चातुः शिष्टादिशब्द०<br>चित्रं चित्रं वत् वत्-  |
| ४७. विषमः     | कविद वद<br>निवैषम्यात्                        | अतिवैषम्यात्<br>सम्बन्धाघटनम्<br>क्रियाफलाप्राप्तिरनर्थश्च कर्तुः-<br>कार्यस्य गुणेन कारणस्य<br>गुणो विष०<br>कार्यक्रियया कारणक्रिया<br>विद्यता | शिरीषादपि मृदन्ती०<br>सिद्धिः काष्ठतत्तत्रस्तः०<br>सद्यः करत्पर्यमवाप०<br>आनन्दममन्दमिमम्० |
| ४८. अधिकम्    | महतोर्वन्मही<br>याभावाविता                    | आचाराधिक्यम्<br>आधेयाधिक्यम्  | अहो विज्ञातं भूयात्०<br>युगान्तकाल०  |

| अलङ्कारनाम       | लक्षणानि                                     | भेदाः   | उदाहरणानि  |
|------------------|--|---|--|
| ४९. प्रत्यनीकम्  | प्रतिपक्षमश-<br>क्तेन प्रति-<br>वर्तुम्०     |   | विनिमित्तमनोभ-<br>रूप०                                     |
| ५०. मीलितम्      | समेन लक्ष्म-<br>णा वस्तु०                    | स्वामाविकेन लक्ष्मणा-   | अपाङ्गतरले दृश्यै-   |
| ५१. एकावली       | स्थाप्यतेऽथो-<br>क्तेन चाऽपि-                | भाग्यनुकेन लक्ष्मणा<br>पूर्वं पूर्वं प्रति परस्य परस्य<br>विशेषगतया स्या० | ये वन्दरास्तु निवसन्ति०<br>पुराणि यस्यां सवराङ्ग-<br>नानि- |
|                  |  | पूर्वं २ प्रति परस्य २ विशेषे<br>व्यगतया निवे०                            | न तज्जल यत्र सुचारु<br>पङ्कजम्०                            |
| ५२. स्मरणम्      | यथोक्तमवध-<br>र्धस्य दृष्टे०                 |   | निम्ननाभिकुहरेषु<br>वदम्भ०                                 |
| ५३. भ्रान्तिमान् | भ्रान्तिमान्<br>न्यसविष्टत्-<br>तुस्य ०      |   | कपाले मामारः पय इनि०                                       |
| ५४. प्रतीकम्     | आक्षेप उप-<br>मानस्य<br>प्रतीकमुप-<br>मेयता- | उपमानस्याक्षेपः   | लावण्यौक्यमि०  |
|                  |  | उपमानस्वोदमेयता<br>असाधारणगुणयोगाद् यस्यो-<br>पमानत्व पूर्वं नानुभूतम्-   | अपि यदि तावत् सुन्दरि०<br>अहमेव गुरु सुदारुणा<br>नाम्०     |
| ५५. सामान्यम्    | प्रस्तुतस्य<br>यदन्वेन-                      |   | मलयजरसविलिप्तर्नव -  |
| ५६. विशेषः       | विना प्रसिद्ध-<br>माधारमाधे-<br>यस्य०        | प्रसिद्धाधार विना आधेय<br>स्यावस्थानम्                                    | दिवस्पुष्पयातानाम्०  |

| अलङ्कारनाम               | लक्षणाणि                               | भेदा   | उदाहरणानि   |
|--------------------------|--|--|---|
|                          |  | एकस्य वस्तुन एकरवभावं<br>नानेकथं वर्तनम्—<br>अन्यत् प्रकुर्वत कार्यमज्ञप्य<br>न्यवस्तुन करणम्— | सा वसति तव हृदये०<br>गृहिणी सखि व सखी०  |
| ५७ मद्गुण                | स्वगुणोऽयं<br>गुणम्०                   |  | विभिन्नवर्णा गच्छाम्यनेन०   |
| ५८ अतद्गुण               | तद्गुणस्यान<br>नुहार -                 | अप्रस्तुतेन प्रस्तुतरूपाननु<br>हार<br>प्रस्तुतेनाप्रस्तुतरूपाननुहार०                           | धवलोऽसि यद्यपि सु दूर०<br>गाङ्गमम्बु०   |
| ५९ व्याघात               | यद्यथा साधि<br>तम्०                    |  | दृष्ट्वा दुर्ध्वं मनसि त्रमम्०  |
| ६० ससृष्टि               | सेष्टा ससृष्टि<br>रैतेषां भेदेन—       | शब्दालङ्कारससृष्टि<br>वर्णालङ्कारससृष्टि<br>व्यङ्ग्यालङ्कारससृष्टि                             | वदनसौरमलोम—<br>लिम्बनीव तमोऽङ्गानि०<br>स नारदयत्र प्राप्ते०<br>आत्त शीघ्रं गच्छेत्० |
| ६१ सङ्हर                 | अविधाति-जु<br>पामातमय<br>काङ्क्षितवम्— | १ अजुमाद्यनुपादिरूप  |   |
| (मन्दमकर)                | एकस्य च ग्रहे<br>न्यापदोषा<br>भावः—    | २ सन्देहरूप  | यथा गभीरो यथा रत्न<br>निभम्—  |
| (एकपदप्रति<br>पापमङ्गुर) | अपुटमेकत्र<br>विषये शब्दा<br>लङ्घनम्—  | ३ एकपदप्रतिपाद्यरूप  | रश्मिस्तमपि रश्मिस्तमपि—  |

प्रश्नः २—अलङ्कारदोषाणामुक्तेषु दोषेषु कथमन्तर्भावः ?

उ० २—अस्योत्तरं निम्नप्रश्ने द्रष्टव्यम् ।

| अलङ्कारदोष<br>नाम   | यस्मिन्नन्तर्भावः                         | उदाहरणानि   | विवरणम्  |
|---|---|---|--|
| अनुपासे<br>प्रसिद्धमात्रं<br>अनु० वैकल्प्यम्                      | प्रसिद्धिविरुद्धता०<br>अपुष्टार्थत्वम्    | चकी चकारपङ्क्ति०<br>मण सरणि रमण०<br>अननुरणन्०             | अत्रत्या स्तुतिः पुराणे-<br>तिहासादी ॥ प्रसिद्धा०<br>वाक्यस्य विचिन्त्यमान<br>किञ्चिदपि चारुत्वं न ।<br>अत्र शृङ्गारे परुषा वर्णाः<br>प्रतिकूलाः । |
| अनु वृत्ति<br>विरोधः<br>यमकस्य पाद<br>त्रये यमनम्                 | प्रतिकूलवर्ण-<br>रत्वम्<br>अप्रयुक्तत्वम् | मुक्तामस्येव मणिः०  |  |
| उपमायामुप<br>मानस्य<br>जातिप्रमा<br>ण-यूनता                       | अनुविनाशं<br>शब्दम्                       | चाण्डालैरिव० ( जातिगता )<br>वह्निपुलिङ्ग इव० ( प्र० गता ) | चाण्डालादिभिरुपमानैः<br>प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यन्त कद-<br>मित ।   |
| उपमायामुप<br>मानस्य जा<br>तिप्रमाणा<br>धिकता                      | क्रमेण                                    | अयं पद्मासनासीनः०<br>पातालमिव ते नामि०                    |  |
| उप० धर्मन्यूनता   | हीनपदत्वम्                                | स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्जवा०                                 | उपमानस्य मौञ्जीवा-<br>नीयस्त्वद्विहस्यगो धर्मः<br>केनापि न प्रतिपादितः<br>उपमेवशब्ददेरनिर्देशे श-<br>शिनो ग्रहणमधिकम्-                             |
| उप० धर्माधिकता  | अधिकपदत्वम्                               | स पीनवासाः प्रगृहीनशाङ्ग०                                 |  |
| उपमायामुप<br>मानोपमैव<br>योर्विज्ञ-<br>लिङ्गत्व मित्र<br>वचनत्वम् | मध्यमक्रमत्वम्                            | चिन्तारत्नमिव च्युतोऽपि                                   |  |



| अलङ्कारदोष<br>नाम   | यस्मिन्नन्त-<br>र्भावः                  | उदाहरणानि  | विवरणम्  |
|---|---|--|--|
| उपमाया<br>कालभेदः<br>उप० पुरुषभेदः  | प्रपञ्चकमत्वम्<br>"                     | अतिथिं नाम काकुत्स्वाय<br>प्रत्यग्रमञ्जनविशेष०               | अत्र चेतना प्रसादमा<br>श्रीति न त्वाप<br>लता विभाजते<br>न तु विभाजते   |
| उप० विद्यादि<br>भेदः<br>उप० असादृश्यम्  | "<br>भनुचितार्थत्वम्                    | गाङ्गेव प्रवहन्ते ते सदैव कीर्ति-<br>प्रयत्नामि काव्यशशिनम्- | गङ्गा प्रवहति न तु प्रवहति<br>काव्यरूपशशिनाऽर्थानां<br>च रश्मिभिर्न सादृश्यम्<br>ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्य<br>मण्डलाभिधतन्त्यो० |
| उप० भसम्भवः<br>उत्प्रेक्षायां<br>यथा-शब्द<br>स्य संभारना<br>वाचकता-<br>निर्दिष्टय उत्प्रे<br>क्षितार्थसम<br>र्थकार्यान्तर<br>न्यासः | "<br>भवाचकत्वम्<br>भनुचितार्थ-<br>त्वम् | उपयौ दीर्घिकागर्भात्-<br>दिवाकरादसति यो गुहासु-              | प्रवेतनमसौ दिवाकरात्<br>प्रास एव न सम्भवति   |
| सामान्यविशे<br>षेण समा<br>सोक्ती उप<br>मानप्रतीती<br>तदुपादानम्   | अपुष्टार्थत्वम्<br>पुनरुक्तं वा         | स्पृशति तिमरुची ककुम्भः-                                     | कुतोऽद्रिणा तत् प्राणम् ।  |
| अप्रस्तुतप्रशं<br>सायामुप<br>मेयप्रतीती<br>नत्कथनम्   | अपुष्टार्थत्वम्                         | आहूतेषु विद्वज्जनेषु मशकः                                    | अचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुत<br>विशिष्टसामान्यदारेणा-<br>भिन्यक्ती पुनः कथनम-<br>युक्तम् ।  |

इति दशमोऽध्यायः ।

## अथ सङ्कीर्णाः केचित् प्रश्नाः

प्र० १—‘अत्र ऐरावणशत्रौ मदमानमुक्तौ जातौ’ इत्यादि सन्दर्भस्य क आशयः ।

उ० १—‘यमप्रेक्ष्य चिररुद्धाऽपि’ इत्यादिपक्षे मन्त्रैरावणमुखे मानेन च शक्रस्य हृदये निवासप्रति उज्जिता त्यक्तेति वाच्यार्थोऽस्ति । व्यङ्ग्यार्थस्तु ‘ऐरावणशत्रौ मदमानमुक्तौ जातौ’ इत्यस्ति । अतो व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकारान्तरेण कथनात् पर्यायो-  
क्तालङ्कारः । अत्र हि यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यमस्ति, परन्तु यथा व्यङ्ग्यं न तथो-  
च्यते । अर्थात् विषयेण वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः कश्चनापि भेदो नास्ति । केवलं  
प्रकारेणैव भेदः । तत्र दृष्टान्तः—यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे ‘गौ शुक्लश्चलति’  
इति विकल्पः । यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति न तु यथा दृष्टं तथा । अथ भावः—  
प्रत्यक्षं द्विविधमस्ति सविकल्पकं निर्विकल्पकञ्च—नामज्ञात्वादिप्रकारयुक्तं ज्ञानं  
सविकल्पकं भवति । त्रिविधविषयतामूढं तुरीयविषयताशालि ज्ञानमर्थात् नाम-  
ज्ञात्यादिप्रकाररहितं ज्ञानं निर्विकल्पकं भवति । निर्विकल्पकसविकल्पकयोर्नास्ति  
विषयस्य भेदः केवलं प्रकारस्यैव । यतो हि भिन्नं वेनाससृष्टत्वेन वा दृष्टं भिन्नत्वेन  
( बौद्धन्ते ) ससृष्टत्वेन ( वैधाकरणादिमते ) विशिष्टीक्रियते । अर्थात् निर्विक-  
ल्पके गोत्वप्रकारकं गोज्ञानं नास्ति प्रत्युत गोज्ञानमात्रम् । सविकल्पके तु गोत्व-  
प्रकारकं गोज्ञानमस्ति । इत्यञ्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विषयभेदो नास्ति अपि तु  
प्रकारस्यैव ।

प्र० २—स्वाधीनपतिकेत्यादि—स्फुटीक्रियताम् ।

उ० २—ननु ‘गुणालङ्कारयुक्तमव्यङ्ग्यं चित्रम्’ इति प्रथमोक्तात्से गदितं विर-  
ध्यतेऽलङ्कारस्थले व्यङ्ग्यस्यानुभवसिद्धतया तत्राधान्ये ध्वनित्वमप्राधान्ये गुणीभू-  
तव्यङ्ग्यत्वरूपचित्रस्य दुरूपपादवादिति चेन्न, स्वाधीनपतिकेत्यादौ व्यङ्ग्यसम्ब-  
न्धात् चारताप्रतीतिरपि इवादिवाच्योपमावैचित्र्यात् । न च ‘ते चालङ्कारनिर्णये  
निर्णेष्यन्ते’ यान्यलङ्कारोदाहरणतयोपन्यस्तानि तानि चित्रकाव्यस्योदाहरणानीति  
पष्टं उक्तमत्र तु ‘स्वप्नेऽपि’ इत्यादीनि यानि उपमोदाहरणतया कथितानि तानि  
चित्रकाव्यस्य नोदाहरणानि राजविषयकभावादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य सत्त्वेनाव्यङ्ग्य-

त्वलक्षणचित्रकाव्यासम्भवादिति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति वाच्यम्, रसभावादि  
रूपव्यङ्ग्यस्य सर्वत्राव्यभिचारित्वात्तत्रौदासीन्यमवलम्ब्य काव्यालङ्काराणामुदाहर  
णात् । तद्वहितानां विरसतापादनाच्च । ननु 'स्वप्नेऽपि' इत्यादौ उपमालङ्कारो  
दाहते पद्ये 'प्रभावप्रभव' इत्यनुप्रासोऽप्यस्ति तस्मात् ससृष्टि सकरो वा वक्तुमु  
चितो न तूमेति चेन्न उपमानुप्रासयो ससृष्टौ सकरे वोपमाया अपि सत्त्वात् ।

प्र० ३—के रसवदाद्यलङ्कारा ?

उ० ३—रसवदाद्यलङ्कारा सप्त सन्ति । गुणीभूतो रसो रसवत्, गुणीभूतो  
भाव प्रेय, गुणीभूतौ रसाभासभावाभासौ उर्जस्वि, गुणीभूता भावशान्ति  
समाहित, एव गुणीभूता भावोदय-भावसन्धि-भावशबलताश्च तन्नामान एवा  
लङ्कारा ज्ञेया ।

प्र० ४—अथ केषाञ्चिदलङ्काराणां भेदा ।

उ० ४—१-उपमारूपकयो, उपमापामिवादिप्रयोगात् सादृश्यं वाच्य  
भवति, रूपके तु तदभावाद् व्यङ्ग्यम् ।

२-मुख्ययोगितादीपकयो, मुख्ययोगिताया प्रकृतानामप्रकृतानां वैकथमेण  
सम्बन्ध, दीपके तु प्रकृताप्रकृतयोरेकधर्मेण सम्बन्ध ।

३-लाटानुप्रासपुनरुक्तवदाभासयो, लाटानुप्रासे समानाकारौ तापर्यण  
भिन्नौ शब्दौ भवत पुनरुक्तवदाभासे भिन्नाकारौ ।

४-उप्रेक्षाभ्रान्तिमतो, उप्रेक्षाया सम्भावनाकर्तुर्विषयस्य ज्ञानं भवति  
भ्रान्तिमति विषयस्य ज्ञानं न भवति ।

५-सन्देहभ्रान्तिमतो, सन्देहे उभयकोटिक ज्ञानं भ्रान्तिमत्येककोटिकम् ।

६-सन्देहो प्रेक्षयो, सन्देहे द्वयोरेपि कोटयो सम्बन्धेन प्रतीतिरुप्रेक्षाया  
मेककोटे प्रधानत्वेन ।

७-उपमाऽनन्वययो, उपमाया द्वयो साम्योक्तिरनन्वये एकस्यैव ।

८-वक्रोक्तिद्वितीयापहृत्यो, वक्रोक्तौ परोक्षेन्यथाकारः, द्वितीयापहृतौ  
स्वोत्तरेव ।

९-द्वितीयापहृतिव्याजोक्त्यो, द्वितीयापहृतौ गोपनकृतो गोपनीयार्थ  
प्रथममुच्यते व्याजोक्तौ तु नोच्यते ।

१०—निदर्शनादष्टान्तयो , निदर्शनाया द्वयोर्वक्त्यार्थयो सापेक्षत्वम्, दृष्टान्ते निरपेक्षत्वम् ।

११—अप्रस्तुतप्रज्ञासाममासोप यो , अप्रस्तुतप्रज्ञासाया प्रस्तुतस्य गम्यत्वसामान्योक्तौ त्वप्रस्तुतस्य ।

१२—अर्थापत्तिनिदर्शनयो , अर्थापत्तौ 'दण्डापूप'न्यायादर्शान्तरप्रतीतिमात्रम् निदर्शनाया वाक्यार्थस्य सादृश्ये पर्यवसानम् ।

१३—अप्रस्तुतप्रज्ञासादृष्टान्तयो , अप्रस्तुतप्रज्ञासाया कचिदप्रसिद्धस्यापि वस्तुन प्रतिविम्बत्वेनोपादान दृष्टान्ते तु प्रसिद्धस्यैव ।

१४—उत्प्रेक्षानुमानयो , उत्प्रेक्षाया विषयिण ( उपमानस्य ) अनिश्चिततया प्रतीतिरनुमाने तु निश्चिततया ।

१५—अनुमानोत्तरयो , एकपक्षगतत्वेन साध्यसाधनयोर्निर्वृत्तौ अनुमाने भवति । उत्तरे तु न भवति ।

प्र० ५—के व्यभिचारिण ? व्यभिचारिस्थायिनो को भेदः ?

उ० ५—निर्वेद , ग्लानि , शङ्का , असूया , मद , श्रम , आलस्यम् , वैग्यम् , चिन्ता , मोह , स्मृति , पृति , ग्रीहा , चपलता , हर्ष , आवेग , जडता , शर्व , विषाद , भीतुष्यम् , निद्रा , अपस्मार , सुषम् , अवोध , अमर्ष , अवहित्थम् , उग्रता , मति , ध्याधि , उन्माद , मरणम् , त्रास , वितर्क , प्ले त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभावा कथ्यन्ते । सजि सूत्रमिव स्थायिनो नियतावस्थानम् । व्यभिचारी ॥ केनहुद्बुद्बुदनियतावस्थितिको भवति ।

प्र० ६—सोदाहरणं लक्षणाया षड् भेदा स्तेरया ।

उ० ६—लक्षणा पूर्वं द्विविधा । शुद्धा गौणी च । शुद्धा चतुर्विधा गौणी च द्विविधा ।

१ सारोपा उपादानलक्षणा, यथा—कुन्ता पुरया प्रविशन्ति ।

२ साध्यवसाना उपा० ल०, यथा—कुन्ता प्रविशन्ति ।

३ सारोपा लक्षणलक्षणा, यथा—आयुर्धृतम् ।

४ साध्यवसाना लक्षणलक्षणा, यथा—आयुरवेदम् ।

५ सारोपा गौणी, यथा गौर्वाहीक ।

६ साध्यवसाना गौणी, यथा—गौरयम् ।

प्र० ७—गौणीगुह्योर्मेदं प्रतिराद्य लक्षणापह्नविध्वं किमर्थमुक्त-  
मिति प्रतिपादयत ।

उ० ७—यत्र सादृश्यमन्वयो भवेत्तत्र गौणी, यत्र नु सादृष्याद् निष्-  
कृष्टिन् तादृष्यकार्यकारणभाववयवविभावादि मन्वयो भवति तत्र गुहा ।

वरादानलक्षणा—अर्थान्तरमनुकृतिवत्सादृष्यनुपयोगिनी ।

लक्षणा—अर्थान्तरमनुकृतिवत्सादृष्यनुपयोगिनी ।

गौणी सारोपा—रूपकालङ्कारोपयोगिनी ।

गौणी साधयमाना—प्रथमातिशयोक्तिलक्षिका ।

गुह्यसारोपा—चतुर्थातिशयोक्तिलक्षिका ।

गुह्यसाधयमाना—सहकारितिरामेन कार्यकारित्वरूपसामर्थ्यातिशयसदृश-  
द्वन्द्वोपलक्षिका ।

प्र० ८—हेत्यलङ्कारः पृथगलङ्कारोऽस्मि न वा ?

उ० ८—ननु हेतुमता सह हेतोरभेदेन निधानं हेतु 'इति प्राचीनैर्हेत्यलङ्कारः  
पृथग् लक्षितमन्वाद्यत्रपि हेत्यलङ्कारो लक्षणीय इति चेन्न, आनुपूर्वमिष्यादिसो-  
धं नालङ्कारत्वमर्हति चमत्कारानावात् । न च 'अतिरिक्तमङ्गविक्रामः' इत्यत्र  
हेत्यलङ्कारप्रपञ्चं काव्यं प्राचीनैर्गुह्यं हेत्यलङ्काराङ्गीकारे कथं नाम मत्प्रसन्नमिति  
वाच्यम्, तत्र काव्यत्वं केवलानुमानमहिम्नैव काव्यलक्षणमेव च हेत्यलङ्कारो न  
नु निष्ठा ।

प्र० ९—व्यतिरेकालङ्कारभेदाः ।

उ० ९—व्यतिरेकालङ्कारस्य चतुर्विधविभेदा मन्ति । उपमेयगतोत्कर्षकारण-  
लुपनगतनपकर्षकारणं द्वयोः ।

( १ ) उपमेयगतोत्कर्षकारणानुक्तिः ।

( २ ) उपमानगतानपकर्षकारणानुक्तिः ।

( ३ ) उपमेयगतानुक्तिः ।

( ४ ) एतेष्वप्येव उपमानोपमेयभावस्य दन्देन कथिते । अत्रोक्तं ननु आर्थ-  
वाच्य एव व्यतिरेकः । इत्यत्राप्येव द्वावपि रूपेण च द्वावपि । निश्चया चतुर्विधेति ।

प्र० १०—अत्रान्वये मन्वुत्पत्तये इति अत्रान्वयः ।

उ० १०—यत्र वस्तुमात्रे वाच्याङ्काररहितेन अलङ्कृत्य अलङ्कारा व्यज्यन्ते तदा तासामलङ्कृतीनां ध्रुव निश्चयेन ध्वन्यङ्गता ध्वनियवहारप्रयोजकता । काव्य वृत्ते काव्यव्यवहारस्य तदाश्रयात् अलङ्कारसापेक्षत्वात् । वस्तुमात्राय यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतपङ्क्यत्वमिति तत्त्वम् ।

११ रूपकादिरलङ्कार —केचिदालङ्कारिका रूपकादानामेवाङ्कारत्वमन्वन्त । यतो हि विभावादिरूपायापस्कारकतया मुख्यस्य रस्यादर कर्षणे रूपकादित्वे वस्तुतोऽलङ्कार । सुन्दर सदरि वनिताननमलङ्काररहित न दोषने । केचित्तु—अनुप्रासादीनामेवालङ्कारत्व वाञ्छन्ति । यतो हि रूपकाद्यलङ्कारस्य काव्यप्रतीति-मन्तर प्रतीतिर्भवति । यत्र सुषा तिङा चानुप्रासादिरूपेणोपतिर्भवति तत्रैवालङ्कारता । शब्दालङ्काराणां स्वतन्त्रमकारिताऽर्थालङ्काराणां तु विभावाद्युत्कर्षमुख्यत्वम् । कविकर्म च शब्दविषयकमव न त्वर्थविषयक तेनानुप्रासादीनामेवालङ्कारता रूपकादिषु त्वलङ्कारव्यवहारो गौणः । श्रीमम्मटमते तु द्वयोरप्यलङ्कारता । यतो हि शब्दे स्वरूपेणालङ्कारता नास्ति निरर्थक्येऽपि तदापत्तेः । नापि केवलार्थेऽर्थबोधक च शब्देऽलङ्कारतेति द्वयोरपि शब्दार्थयोरस्वादोपकारकतयोभयत्राप्यलङ्कारता ।

१२ गुण कृतात्मसंस्कार —गुणोऽप्रधान कृत आत्मन स्वस्य संस्कार अन्येन परिपुष्टिर्यस्य तादृश प्रधान प्राप्तेति । आत्मसंस्कारे च प्रधानस्य महति उपकारे वर्तते । अयं भाव —गौणरसोऽन्येन परिपुष्टं सन् प्रधान रसमुप कोति । अनन रसविरोध परिहृतो भवति ।

कर्णादिशब्दानां सार्यकानर्थक्यप्रस्था—यद्यपि अवनसादनिर्कर्णाभरणान्येव भवन्ति तथापि कर्णादिशब्दा कर्णादिस्थितिज्ञानाय । यथा—‘नस्या कणावनसेन’ ‘अपूर्वमधुरामोद अनयो पद्मयो कर्णश्रवणदिर शब्दा समीप्य ज्ञानार्था । ‘विदीणाभिमुखारति’ इत्यत्र रुढवृत्तज्ञानाय धनुश्शब्द । तद्विविधतायां तु ‘ज्यावन्धनिपन्दुमुपन’ इत्यादौ केवलस्य ज्यावन्धस्य प्रयोगः । ‘प्रणेश्वर’ इत्यादौ अन्यरत्नामिधितवबोधनाय मुक्तशब्द । ‘सौन्दर्यसप्त’ इत्यादौ दुर्दृष्ट पुष्पविषये पुष्पशब्द । उपपदरहित मालापद पुष्पवचनेवामिधिते । ‘नगाद मधुरा वाचम्’ इत्यादौ प्रियाविशगन्धेऽपि विवहिनार्थमिद्धिर्भवति । अत्र ‘गता र्थस्यापि विदोऽयस्य चित्पण्डितार्थं दक्षित् प्रयोग’ इति न युक्तं, युक्तं वा ‘धरणप्रतिवर्णनं त्याद्युदाहार्यम् । अर्थात् ‘नगाद मधुरा वाचमि’त्यत्र जगादेति

क्रिययैव वाचो लाभे विशेषणदानार्थं वाचमित्यस्य ग्रहणमिति केचित् तन्न, क्रिया विशेषणत्वेनैव निर्वाहे वाचमित्यस्य विशेषणदानार्थं ग्रहणं न युक्तम् ।

१३ सर्वत्र एवंविधविषये—ननु आधार विना आधेयस्यावस्थानम्, एक स्यात् एकत्रावस्थानम्, एकेन यत्नेन कार्यद्वयकरणं वस्तुतो नोपपन्नमिति चेन्न, एवं विधविषयेऽतिशयोक्तिरेव जीवनम् । अतिशयेन लोकसीमातिक्रमेण उक्तिं वक्ष्ये नम् । उक्तञ्च—‘सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरि’त्यादि । अत्रापि वक्रोक्तिरतिशयोक्तिर्बोध्या । सर्वत्र एषा अतिशयोक्तिलोकसीमातिक्रमेणोक्तिरेवाहङ्कारकारणमस्ति । एतदर्थं कविना यत्नः कार्यः । एनामन्तरेण प्रायेण कोऽप्यलङ्कारो नास्ति ।

१४ एषा च विरोधवाधिनी—असंगतिविरोधाभासबाधिकाऽस्ति । असंगती एकदेशकयोर्भिन्नदेशकत्वरूपानुपपत्तिरस्ति । अतो विरोधाभासे भिन्नदेशकयोरेकदेशकत्वरूपानुपपत्तिं कथं विनापि सिद्धयति । ‘प्रकल्प्य चापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते’ इति न्यायात् । अपवादविषयं परित्यज्य सामान्यशास्त्रं प्रवर्तते । असंगतिरपवादोऽस्ति विरोधाभासः सामान्यमस्ति । तस्मादसंगतिविषयं परित्यज्य विरोधाभासः प्रवर्तते ।

१५ ननु समानमुच्चारितम्—ननु कालभेदेऽप्युपमाया भग्नप्रक्रमता न भवितुमर्हति । उच्चारितं गम्य वा कालानुपहितधर्मान्तरमादाय कालभेदाभावात् । यत्रोच्चारितेनैव सामान्यधर्मेणोपमा प्रतीयते तत्रापि ‘युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति’ इत्यादौ युधिष्ठिर इव सत्यवाच्यं सत्यं वदतीति बोधयिष्याम । सत्यवादो सत्यं वदति’ इत्यादौ युधिष्ठिर इव सत्यवाच्यं सत्यं वदतीति बोधयिष्याम । सत्यवादो सत्यं वदतीत्यत्र पुनरुक्तिस्तु न शङ्कनीया । युधिष्ठिर इव सत्यवदनेन सत्यवाच्यं मिथ्यावगमादिति चेन्न, साधुवार्थं नियमितेष्वेतत्समर्थनं न तु सर्वथा निर्दुष्टं प्रकृतवस्तुप्रतीतिविनाशात् ।

१६ सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च—

सालङ्कारैर्यत्रैकशेषः । सालङ्काराश्च सालङ्काराश्च सालङ्कारस्तैः सारूपाणां मेकशेष एकविभक्तौ’ इत्येकशेषः । पूर्वमलङ्कारशब्दो भावघञन्तोऽलङ्करणमलङ्कारशोभा तथा सह वर्तते इति सालङ्कारः । अपरत्रालङ्कारशब्दः करणघञन्तः । अलङ्क्रियतेऽनेनेत्यलङ्कार उपमादिस्तेन सहिता सालङ्काराः । ततश्चायमर्थः—अलङ्कारा मता ग्रासैः समासोक्तिरसवदादिपदामिधेयैः वाच्यालङ्कारयुक्तैश्च गुणीभू

तव्यङ्गधर्मभेदे शुद्धे सह एकपञ्चाशद्भेदस्य ध्वनेरेकरूपया सस्पृष्ट्या त्रिभिः  
सकरैश्च योगो भवतीति ।

प्र० १७—आय शूलिक इत्यत्र लुप्तोपमाऽस्ति न वा ?

उ० १७—ननु अयं शूलमिव क्रूराचारस्तेनान्विच्छति व्यवहरतीति आय -  
शूलिक । अत्र हि क्रूराचार उपमेय, तीक्ष्णत्वादिरूप साधारणो धर्म, साधारण  
धर्मवाचक इवादिष्व नोपात्त केवलमुपमानभूतमयं शूलमेवोपात्तम् । अतस्त्रिलो  
पेयमुपमेति चेत्, क्रूराचारस्य निगीर्णस्वरूपस्यायं शूलतादात्म्येनारोपादत्रानि  
शयोक्तिः । अन्यथा निगीर्याप्यवसाममूलातिशयोक्तेर्निर्विपरत्वापत्तिः ।

प्र० १८—'निरुद्धा लक्षणा काश्चित्' व्याप्यायताम् ।

उ० १८—अभिधानवत् शक्तिवत् सामर्थ्यात् प्रसिद्धे शब्दस्य भावाद्वा निरुद्धा  
अनादिप्रसिद्धा काश्चित् लक्षणा भवन्ति । यथा 'कर्मणि कुशल' इत्यादौ । साम्प्रतम्  
अधुना काश्चित् प्रयोजनवशात् क्रियन्ते । यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ । अत्र  
शीतपावनवादिप्रतीत्यर्थं गङ्गादिपदस्य गङ्गातटादौ लक्षणा स्वीक्रियते । काश्चित्  
लक्षणा रुढिप्रयोजनान्वतराभावात् अशक्तित्वात् प्रत्यायनसामर्थ्याभावात् नैव  
क्रियन्ते । यथा 'रूपो घट' इत्यादौ । पददोषेषु नेयार्थदोष उक्तस्तत्र नेयत्व प्रति  
पादयितुं 'निरुद्धा लक्षणा' इत्याद्युक्तम् । निपिद्धलक्षणाया विषयो नेयः । नेयोऽर्थो  
यस्य तत् पदं नेयार्थम् ।

१९ गुणमाञ्च परार्थत्वात्—गुणानां विशेषणानां परार्थत्वात् प्रधानान्वया  
पेक्षित्वात् असम्बन्ध परस्परमनन्वय स्यात् समञ्जसः । गुणप्रधानभावेनैव पदार्थानामन्वयो न तु गुणानां गुणैः सह, नापि प्रधानानां प्रधानैः सहान्वय इति  
तत्त्वम् । इयुक्तनयेन 'यासां त्रिदशेभ' इत्यादिपदेषु यच्छब्दनिर्देशयानामथानां  
गुणत्वात् । परस्परमन्वयाभावेन यैरित्यत्र विशेष्यस्य प्रतीतिर्नास्ति । यैरिति  
यदर्थस्य विशेष्यतया क्षपाचारिसम्बन्धो निवक्षितः । स च न घटते क्षपाचारि  
णामिति भिन्नविभक्त्यन्तक्षपाचारिशब्दस्य ग्रहणात् । तेनाभवन्मत्तयोगश्च स्पष्ट  
मेव । क्षपाचारिमिरिति पाठे त्वन्वय सुसिद्धो भवति ।

इति पराशरवशावतसपण्डितश्रीमदमोलकरामा-मजप्रण्डितश्रीनृत्तानन्दतनुपुत्रपुत्रा  
सुरजीगर्भसमुद्भयश्रीपण्डितदेवदत्तशास्त्रिणा निमित्त खसमोह्यासादा-

दशमोह्यासपर्यन्त काव्यप्रकाशरहस्य समाप्तम् ।



## व्याख्याकार, डॉ० भोलाशंकर व्यास ।

इसमी व्याख्या में शास्त्रार्थस्थलों को सुबोध बनाने की अधिक चेष्टा की गई है । कुवलयानन्दकार की परिभाषाओं, भेदों तथा उदाहरणों की जहाँ जहाँ पण्डितराजने रसगगाधर में आलोचना की है, उन-उन स्थलों पर पण्डितराजके आक्षेपों को उपन्यस्त कर ग्रन्थ को अधिक उपयोग बनाया गया है । ग्रन्थ के आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका है जिसमें प्रायः सभी प्राचीन अलङ्कारशास्त्रियों के मतों का समन्वय एवं समीक्षा आदि है । यह ग्रन्थ अलङ्कारों के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करता है । अलङ्कार शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यधिक उपयोग सिद्ध होगा ।

(६॥)

१

## हिन्दी काव्यादर्शः

‘प्रकाश’ सस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेत ।

व्याख्याकार-आचार्य रामचन्द्र मिश्र ।

सरस शैली में अलङ्कार शास्त्र का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है । व्याख्याकार ने वर्तमान शिक्षास्तर के सर्वथा अनुकूल सारगर्भित सरल विस्तृत हिन्दी भाष्य करके इसे सुबोध बना दिया है । इस अभिनिर्वाहक सस्करण का प्रस्तावना में लगभग ७० अलङ्कारशास्त्रियों का उल्लेख, रचनाएँ तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन किया गया है । सभी अलङ्कारशास्त्र, अलङ्कारशाब्दार्थ एवं अलङ्कारशास्त्र का क्रमविकास न केवल प्रसंग भा प्रस्तावना में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । छात्रों, अध्यापकों एवं साहित्यानुसंधानियों के लिये यही उपयोगी सस्करण है ।

(६॥)

प्रातिष्ठानम्—चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-३